॥ ओ३म् ॥

आर्य-संसार

वार्षिक विशेषांक-२०००

सन्ध्या रहस्य

व्याख्याता :

पं० चमूपति जी, एम०ए०

●

सन्ध्या अष्टाङ्ग योग

व्याख्याता :

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती

●

सम्पादक :

उमाकान्त उपाध्याय, एम० ए०

●

प्रकाशक :

आर्य समाज कलकत्ता

आर्य-संसार विशेषांक

पौष
२०५७ वि०

नवम्बर-दिसम्बर
२००० ई०

वर्ष ४२

मूल्य :
इस प्रति का
३० रुपये

वार्षिक ४० रुपये

वार्षिक विशेषांक-२०००

सन्ध्या रहस्य

व्याख्याता :
पं० चमूपति जी, एम.ए.

●

सन्ध्या अष्टाङ्ग योग

व्याख्याता :
स्वामी आत्मानन्द सरस्वती

●

सम्पादक
प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, एम० ए०

●

प्रकाशक :
आर्य समाज कलकत्ता
१९, विधान सरणी, कलकत्ता-६
दूरभाष : २४१-३४३९

आर्य समाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और दो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है ।

२. ईश्वर, सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है । उसी की उपासना करने योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये ।

६. संसार का उपकार करना, आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है—शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये ।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।

आर्य समाज कलकत्ता

के

वर्तमान पदाधिकारी एवं अन्तरंग सदस्य

प्रधान	—	श्री विश्वनाथ पोद्दार
उप-प्रधान	—	श्री श्रीराम आर्य
,,	—	श्री अमर सिंह सैनी
,,	—	श्री सुरेश चन्द जायसवाल
मन्त्री	—	श्री राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
उप-मंत्री	—	श्री अवधेश कुमार झा,
,,	—	श्री छोटेलाल सेठ
,,	—	श्री दीपक आर्य
कोषाध्यक्ष	—	श्री अच्छे लाल सेठ
हिसाब परीक्षक	—	श्री घनश्याम मौर्य
पुस्तकाध्यक्ष	—	श्री मदनलाल सेठ
उप-पुस्तकाध्यक्ष	—	श्री शिवकुमार जायसवाल
यज्ञ-व्यवस्थापक	—	श्री शीतल प्रसाद आर्य
,,	—	श्री लक्ष्मीकान्त जायसवाल

अन्तरंग सदस्य

श्री लक्ष्मण सिंह, मनीराम आर्य, नन्दलाल सेठ, अशोक सिंह, ओमप्रकाश मस्करा, बिन्देश्वरी प्रसाद जायसवाल, अच्छेलाल जायसवाल, अजय कुमार गुप्ता, श्रीमती सुमना आर्या एवं श्रीमती जानकी देवी झा।

अधिष्ठाता आर्य युवा शाखा

श्री विजय प्रकाश जायसवाल

विशेष आमंत्रित सदस्य

सर्वश्री द्वारका प्रसाद जायसवाल, मोतीलाल साव एवं हीरालाल जायसवाल

प्रतिष्ठित सदस्य

सर्वश्री आचार्य पं० उमाकान्त जी उपाध्याय
श्री रुलिया राम गुप्त
छबील दास सैनी
श्रीनाथदास गुप्त
श्रीकुलभूषण सभरवाल ।

पदेन

श्री रामवृक्ष सिंह, प्रधानाध्यापक
रघुमल आर्य विद्यालय
प्रधानाचार्या आर्य कन्या महाविद्यालय

आर्य समाज कलकत्ता के विद्वान् प्रचारक
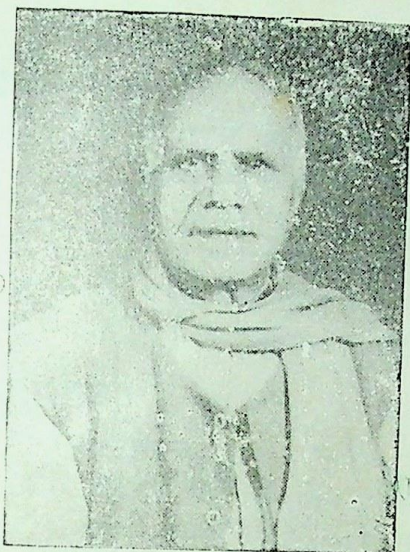
पं० श्री रामनरेश शास्त्री
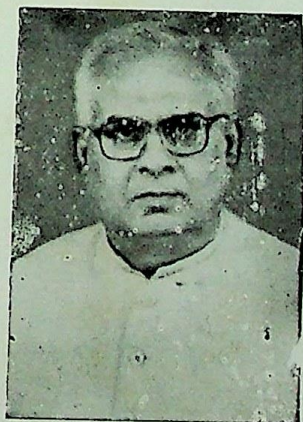
पं० श्री उमाकान्त उपाध्याय

आर्य समाज कलकत्ता
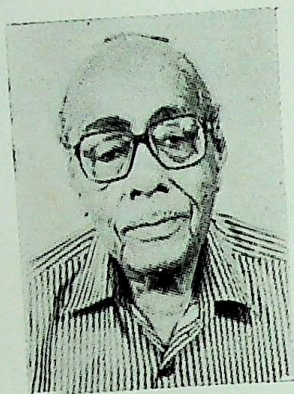
श्री विश्वनाथ पोद्दार, प्रधान
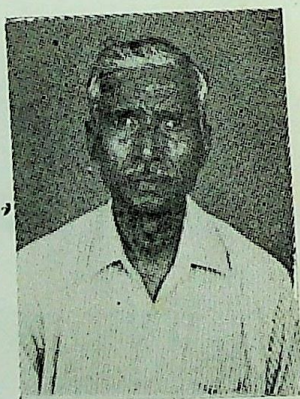
श्री राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल, मन्त्री

सूची

सन्ध्या रहस्य

सन्ध्या अष्टाङ्ग योग

साधारण विज्ञापन सूची

विज्ञापन		पृष्ठ संख्या
१.	वागेश्वरी शिव नारायण	१
२.	न्यू पटना ट्रांसपोर्ट एजेन्सी	२
३.	पंचानन कोल्ड स्टोरेज प्रा० लि०	३
४.	गोविन्द ब्रदर्स	४
५.	वाइनको स्टोरेज प्रा० लि०	५
६.	विजय ट्रेडिंग कारपोरेशन	६
७.	सिंह एण्ड सन्स	७
८.	सुरेन्द्रा प्रेसिंग	८
९.	अशोक आनन्द जायसवाल	९
१०.	मथुरा राम रामवुज राम	१०
११.	इन्डो इण्डस्ट्रीज एण्ड कॉमर्स	११
१२.	म्यूनाइटेड मेटल ट्रेंडिग कम्पनी	१२
१३.	शान्ति स्टील प्रोसेजर्स	१३
१४.	ए. आर. वर्मा एम्ड सन्स	१४
१५.	सुप्रीम स्टील प्रोडक्टस	१५
१६.	नरेन्द्रा सिंह सैनी	१६
१७.	रामधनी जायसवाल एण्ड सन्स	१७
१८.	आनन्द आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	१८
१९.	लोचन राम महावीर राम	१९
२०.	मेनराज राम अचरज राम	२०
२१.	अनिल इण्टरप्राइजेज	२१
२२.	आ०ए० जायसवाल एण्ड कम्पनी	२२
२३.	आरटेक इण्टरनेशनल प्रा० लि०	२३
२४.	शिवा इण्टर प्राइजेज	२४
२५.	राधा स्टील्स	२५
२६.	चन्द्रा एण्ड चन्द्रा	२६
२७.	रामकृष्ण मेटल फेब्रिकेटर	२७
२८.	सागर सिलाई मशीन	२८
२९.	गुप्ता ट्रेडिंग कम्पनी	२९
३०.	जवाहरलाल साव	२९
३१.	कल्पना स्टील ट्रेडर्स	३०
३२.	कलकत्ता स्टील	३०
३३.	दीपक स्टील कारपोरेशन	३१
३४.	बलिया स्टील कारपोरेशन	३१

विशेष विज्ञापन (रंगीन)

आवरण पृष्ठ

सम्पादकीय

''**आर्य संसार**'' आर्य समाज कलकत्ता का मासिक मुखपत्र है । इसके प्रकाशन के पीछे अधिकारियों की भावना यह थी समाज अपने सदस्यों और दानदाताओं से निरन्तर सम्बन्ध बनाये रखे और प्रतिमास समाज से सम्बन्धित समाचार और कुछ अन्य पठनीय सामग्री समाज के सदस्यों और सहयोगियों को मिलती रहे । आर्य संसार का प्रकाशन जनवरी १९५९ ई० से आरम्भ हुआ था । इस वर्ष दिसम्बर २००० ई० में इसके ४२ वर्ष पूरे हो जाएँगे ।

आर्य समाज कलकत्ता का नवदिवसीय वार्षिकोत्सव वर्षान्त में, दिसम्बर के अन्त में, बहुत दिनों से होता आ रहा है । प्रतिवर्ष वार्षिकोत्सव के समय आर्यसंसार का वार्षिक विशेषांक आरम्भ से ही प्रकाशित होता आया है । सन् १९६९ ई० में आर्य समाज कलकत्ता की अन्तरंग सभा ने निर्णय किया कि वार्षिक विशेषांक के रूप में किसी अच्छी दुर्लभ पुस्तक का प्रकाशन किया जाय । बड़ी अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त होता रहा है । हमें भी सेवा करने का यह अयाचित वरदान प्रभु कृपा से, और अधिकारियों की आत्मीयता से प्राप्त होता आ रहा है । इस वर्ष सन् २००० ई० में आर्य संसार के विशेषांक के रूप में पुस्तकमाला का ३२वाँ पुष्प कृपालु पाठकों की सेवा में समर्पित है ।

इस वर्ष हम सन्ध्या की दो महत्वपूर्ण व्याख्याएँ प्रकाशित कर रहे हैं—

१. सन्ध्या रहस्य – पं० चमूपतिजी कृत

२. सन्ध्या अष्टाङ्गयोग – स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती कृत ।

इन पुस्तकों के सम्बन्ध में समीक्षात्मक कुछ लिखने की क्षमता हममें नहीं है । फिर भी पाठकों के प्रति सम्पादकीय दायित्व की दृष्टि से कुछ लिखने की भावना को दबा देना अन्याय होगा ।

व्याख्याता के रूप में हमने सन्ध्या की व्याख्या एकाधिक बार अनेकत्र की है । हम इन पुस्तकों के भक्त हैं । हमने इन दोनों पुस्तकों को अनेक बार पढ़ा है । इनका स्वाध्याय बड़ी श्रद्धा एवं तन्मयता से किया है । अपने पाठकों को इन पुस्तकों का स्वाध्याय करने की प्रेरणा करने में हमें आनन्द एवं उत्साह का बोध हो रहा है ।

पं० चमूपति जी की व्याख्या में साहित्य, लालित्य एक भक्त के हृदय की भक्ति परिपूर्ण सुमनस्कता, सरसता का अनुभव होता है ।

स्वामी आत्मानन्द जी महाराज की व्याख्या अष्टाङ्गयोग परक है । विचित्र पाण्डित्य, मन्त्रों की अध्यात्म परक व्याख्या, सब कुछ स्वाध्याय निदिध्यासन की आकांक्षा रखता है ।

मन कहता है कि एक अच्छा उपयोगी कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा प्रभु की ही कृपा है ।

पुस्तक यथासमय प्रकाशित हो रही है, एतदर्थ आर्य संसार के सह सम्पादक श्री राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल और एसोशियेटेड आर्ट प्रिन्टर्स एवं श्री चन्द्रकान्त झा हमारे धन्यवाद के पात्र हैं ।

सेवक—
उमाकान्त उपाध्याय
सम्पादक, आर्य संसार

२०-१२-२००० ई०

॥ ओ३म् ॥

सन्ध्या रहस्य

लेखक : प्रकाण्ड वैदिक विद्वान्

स्वर्गीय पं० चमूपति जी एम०ए०

भूमिका

१—सच्चा स्थाई बीमा

ओ३म् वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतोस्मर क्लिबेस्मर कृतं स्मर ॥

यजु० अ० ४० । मं० १६ ॥

प्राण जीवन की कला है । इसके चलने से शरीर चलता है, इसके रुकने से शरीर रूक जाता है । परमात्मा ने प्राणों की गति में कुछ ऐसा अनुपात रक्खा है, कि एक श्वास-प्रश्वास की मात्रा बिगड़ी नहीं और यह अद्भुत यन्त्र विकृत हुआ नहीं । इसी गति के बिगाड़ का फल रोग और इसी का फल अन्त को मृत्यु है । जब यह बोलता चालता पार्थिव पुतला अचानक मौन साध बैठा, अर्थात् जीव ने शरीर से प्रस्थान किया, तो इसे ज्वाला की भेंट चढ़ायेंगे । उसका सारा सौन्दर्य तथा बल भस्म की मुट्ठी होगा । फिर तो प्राण-वायु, वायु-तत्व में जा मिलेगा । मृत शरीर में तो वायु का प्रवाह होगा, परन्तु प्राण रूप में नहीं ! तब उस शरीर से जीव का क्या सम्बन्ध ?

उस समय जीव की अवस्था उस धनाढ्य की सी होगी, जिसने सारी आयु संसार में घूम-घूम कर वैभव इकट्ठा किया, एड़ी चोटी का बल लगाकर पूँजी कमाई, सारे घरको धन धान्य से भर दिया । अकस्मात् एक दिन लकड़ी के ढेर में चिनगारी सुलगती रहने से भवन में आग लग गई । ईश्वर ने इतनी ही कृपा की कि कार्यवश गृह-स्वामी कुटुम्ब सहित घर से बाहर था । लो ! उन कपड़ों को आग लग रही है जो देश विदेश के कारखानों से आये थे, कुर्सियाँ और मेजें ज्वाला के मुख में हैं । जिन दीवारों की सफेदी बिगड़ने के भय से माघ के शीत में आग न जलाते थे, आज ईंधन ने उन पर काला रोगन कर दिया । पुस्तकों का नाम ही न रहा । उनके पत्र तथा अक्षर सबने मसि का चोला स्वीकार किया है ।

कड़ ! कड़ ! कड़ ! शहतीर तथा कड़ियाँ गिर रही हैं । जो सामग्री जलने की न थी, वह उनके दबाव से टूट गई । अब तो न बर्तन रहे, न भूषण, न कोई और नित्य निर्वाह की सामग्री । लाख का घर राख हो जाता है । पानी का इंजन आता है और गगनचुम्बी ज्वालाओं को बुझाता है । पर जो पदार्थ नष्ट हुए, उनको फिर कौन लौटा लायेगा ?

नगर का एक प्रसिद्ध धनाढ्य पिस गया । आओ ! हम भी आर्थिक सहायता न सही, मौखिक सहानुभूति तो प्रकट कर दें । हम मुख को कुछ शोकावृत्त-सा बना लेते हैं कि सहानुभूति हार्दिक प्रतीत हो । पर सेठजी की मुख

कली वैसे ही प्रस्फुटित है, जैसी आग की आपत्ति से पूर्व थी। कहते हैं—"यह कोई मेरा बड़ा गोदाम न था। मेरा धन किसी विशेष स्थान में अथवा सामग्री के रूप में स्थित नहीं, किन्तु सारा व्यवसायों में लगा है। कम्पनियों में हिस्से हैं, अपने कार्यालय हैं, जिनसे स्थायी आय आती है। जो भवन जल गया, इसका भी बीमा करा दिया था सो चिट्ठी भेजी है, रुपया आ जायेगा, फिर नया भवन बनवा लेंगे।"

शरीर रूपी भवन को भस्म होते देखने वाले जीव ! क्या मन की यही अवस्था है जो उक्त सेठ की थी ? क्या तेरी शारीरिक सम्पत्ति भी व्यवसायगत है ? क्या इससे तुझे स्थायी आय है ? अर्थात् तेरी शारीरिक शक्तियों का प्रयोग ऐसा है, जिससे आत्मिक बल सदैव बढ़े ? तूने अपने भवन का बीमा कराया या नहीं ? क्या इस शरीर के छूटने पर इससे अच्छा शरीर मिलेगा ? या मरे पीछे तू मुक्तिधाम को प्राप्त हो जायेगा ? यदि अब तक यह यत्न नहीं किया तो आ, अब करें।

२–आत्मिक बही की पड़ताल

किसी प्रकार की भी उन्नति करने से पूर्व आवश्यक है कि अपनी वर्तमान अवस्था का पूरा ज्ञान प्राप्त किया जाए।

व्यापारी दूसरे दिन की बिक्री उसी समय करता है, जब पहले दिन की बही मिला चुके अर्थात् आय-व्यय की तुलना करके देख ले कि कितना बचा है ? जिसको अपनी पूँजी का पता नहीं वह उसकी वृद्धि के उपाय क्यों कर करेगा ?

प्रिय मुमुक्षो ! तू पहले अपनी आत्मिक अवस्था पर दृष्टि डाल। वेद कहता है "कृतं स्मर" अर्थात् अपने किए की याद कर। क्या कहीं शिथिलता है ? त्रुटियाँ हैं ? आलस्य उनकी निवृत्ति में बाधक है, समाज का भय उठने नहीं देता ? लज्जा के कारण निर्बल है ? ले। इसका भी एक अचूक उपाय है। "क्लिबे स्मर" अर्थात् बल के लिए स्मरण कर। किसका ? "क्रतो स्मर" अर्थात् उस पवित्र पतितपावन, बल के पुञ्ज सर्व शक्ति के आधार, धर्मस्वरूप, तेज के स्रोत प्रभु परमात्मा का। बस यही तीन कार्य हैं, जो तुझे प्रतिदिन करने हैं। (१) अपने आचरण पर ध्यान देना, (२) उसमें आई त्रुटियों को विचार गोचर रखना, और (३) सब बलों के भण्डार सर्वशक्तिमान् का स्मरण करना।

लोगों ने मृत्यु को भयानक समझा है। वास्तव में मृत्यु एक परिवर्तन है। मरते हुए पं० गुरुदत्त से लोगों ने पूछा—"आप प्रसन्न क्यों हैं ?" कहा—"इस देह में दयानन्द न हो सके थे, इससे उत्तम देह पायेंगे तो दयानन्द

बनेंगे।'' जो परिवर्तन उन्नति का द्वार हो उसका स्वागत खुले दिल से किया जाता है। जिससे पतन की सम्भावना हो उससे डरते हैं। मृत्यु शत्रु हैं तो उसे जीत। घबराने से और भीरु होगा।

३–शक्तिमान् के स्मरण से शक्ति

शङ्का हो सकती है कि परमात्मा के स्मरण-मात्र से ही शक्ति क्योंकर आएगी ? यह बात जितनी गूढ़ है, उतनी आनन्दप्रद भी है। बच्चा नंगे सिर गली में खेलता है। अपने विचारानुसार जिस बालक को अपने से अच्छा समझता है, उसका अनुकरण करने लगता है। वह लाल रङ्ग का कुरता पहिने है, तो इसे भी लाल रङ्ग का कुरता चाहिए। बड़ा हुआ, पाठशाला गया। अपने सहपाठियों में से किसी को आदर्श विद्यार्थी जानकर उसका अनुकरण करता है। छोटी श्रेणियों के लिए बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी आचार व्यवहार में नेता हैं। बड़ों के लिए उनका अध्यापक। यही अवस्था मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में बनी रहती है। कहते हैं, मरते समय भी जैसे संकल्प होते हैं वैसी ही योनि आगे मिलती है। कथन का सार यह है कि मनुष्य बिना मानसिक आदर्श के नहीं रह सकता। कौन कह सकता है कि इन खयाली नेताओं के नित्यप्रति चिन्तन से बालक तथा मनुष्य की आत्मा को क्या लाभ अथवा हानि पहुँची ? यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है–

`As a man thinketh, so he becometh' 'अर्थात् जैसा मनुष्य सोचता है वैसा वह बन जाता है।

गर्भिणी माता के हृदय में जो संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं, वह गर्भ-स्थित बच्चे के मानसिक जीवन का आधार बनते हैं। यदि मनन-शक्ति इतनी प्रभाव शालिनी है, तो उस परमेश्वर के गुणों का स्मरण का लाभ जिसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सर्वशक्तिमान् इत्यादि विशेषणों से युक्त कहा है, क्या-क्या चमत्कार न दिखाएगा ? एडीसन+ की माता एडीसन को पेट में रखती हुई निरन्तर वैज्ञानिक यन्त्रों का ध्यान करती रही तो एडीसन संसार भर का बड़ा विज्ञानवेत्ता हुआ, और मङ्गलादि नक्षत्रों से विद्युत द्वारा वार्त्तालाप का सम्बन्ध

+ पाताल देश (अमेरिका) का प्रसिद्ध वैज्ञानिक आविष्कारकर्ता सन् १८४७ ई० में उत्पन्न हुआ। किसी रेलवे में समाचार-पत्र बाँटा करता था। एक छापा मिलने पर वहीं अपना पत्र निकाल दिया। इसके पीछे Automatic Telegraph Repeater स्वयं चलने वाले तार का घण्टा, Carbon Telephone कार्बन का दूर श्रावकयन्त्र Electric Fire-arm वैद्युत् आग्नेय अस्त्र, Electric Railway (विद्युत की रेलगाड़ी), Phone graph (ध्वनि-लेखक) phono-meter (शब्द मापक), Edison System of lighting (एडीसन की प्रकाशन-विधि) इत्यादि यन्त्र तथा कलें बनाईं।

स्थिर करने लगा । उपासक भी अपने हृदय-गर्भ में सर्व-शक्तिमान का ध्यान धारण करे तो अवश्य उसका आत्मा अपूर्व-शक्ति को प्राप्त होगा । बलवान् का स्मरण करना वास्तव में बल के लिए अपनी आत्मा के किवाड़ खोलना है ।

तो फिर आ ! उन्नति के पिपासो ! एक तो अपने नित्यकृत्यों की पड़ताल किया कर । दूसरे, उस दुःखों के मोचनहार मुक्तस्वभाव को सदैव दृष्टिगोचर रख, जिसका स्मरण सर्वतः कल्याणप्रद है । उस मिट्टी के पौधे की भाँति जो नारङ्गी के साथ जोड़ा जाकर स्वयं नारङ्गी का वृक्ष बन जाता है, और ''सङ्गतरे के नाम से स्पष्टतया जताता है, कि मैं उत्तम सङ्गसे तर गया हूँ, तू भी उस प्रियतम को अपनी दृष्टि का तारा बना और उसकी ज्योति में ज्योतिर्मय बन जा । फिर देख अन्धकार निकट भी फटकता है ? हाँ, हाँ, उस निस्संग के उत्तम संग से तर ।

४–दैनिक ब्रह्मचर्य तथा दैनिक संन्यास

क्या तू इस भ्रम में फँस गया कि तुझे घर बार त्याग, बन मे कुटिया बनाकर रहने का उपदेश दिया ? भोले ! वृथा भयभीत मत हो । ईश्वर ने भी तो तेरे कुटुम्ब को नहीं त्यागा, तू इसे क्यों त्यागेगा ? प्रकृति के दबाव में आने से जीव दबता है, उस पर अधिकार पाने से उन्नत होता है । तू संसार से उच्च है संसार को अपने पीछे लगा । अपने सामर्थ्य के कोष को खोल । अपने ऊपर विश्वास कर, और सारे संसार का नमस्कार ले ! एकान्तवास का तुझे इसलिए उपदेश नहीं देते, कि तू जड़ पदार्थों तथा उनसे लिप्त जीवों से डर कर छिप जाय । जड़ में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि शुद्ध चेतन पर प्रभुत्व रखे ? और जो चेतन जड़ प्रकृति के हथकण्डे में आ चुके हैं, वह जड़ों से भी गए गुजरे जड़तम हैं । तुझे तो एकान्त-गृह की सम्पत्ति इसलिए देते हैं कि तू अपने बल को इकट्ठा कर ले । पहलवान कुश्ती में आने से पूर्व लंगर लंगोट कस लेता है । योद्धा अस्त्र बाँधकर रणक्षेत्र में उतरता है । तू भी शस्त्रों से सुसज्जित हो । ज्यों-ज्यों दिन चढ़ेगा, त्यों-त्यों संसार का रणक्षेत्र तपता जायगा, और तुझे उत्साह-पूर्वक संग्राम में भाग लेना होगा । तू प्रातः समय ही अपने बलका एकाग्रमन द्वारा संग्रह कर । चढ़ती कला सब संसार का भला । संसार भर के धार्मिक तथा सामाजिक नेता संसार से पृथक् न हुए इसी में बिचरे, परन्तु कुछ समय के लिये उन्हें तप करना आवश्यक था । महात्मा बुद्ध + के सम्बन्धी

+ बौद्ध धर्म के प्रवर्तक । ५५० ई० पू० अर्थात् ४९४ वि० पू० में इनका जन्म हुआ । शाक्य जाति के राजकुमार थे । वैराग्यवश घर से निकले । वनों में फिरे । तपस्याएँ कीं । अन्त को ध्यान में लीन होकर 'बोधिसत्व' को पाया और बुद्ध हुए । घरवालों को बौद्ध किया और देश में बौद्ध धर्म फैलाया ।

भ्रमवश यह समझते रहे कि राजकुमार घर बार से रुष्ट होकर वनों में भाग गये हैं। वस्तुतः वह उन्हीं मोह-ग्रस्तों के मोक्ष की धुन में "बोधि वृक्ष" की एकान्तमयी छाया ढूढ़ रहा था। मुहम्मद x 'हरा' की पहाड़ी में मक्के से दूर न था। 'मक्का' उसके मनमें बसता था, मक्के को आत्मिक मदीना (नगर) बनाने के लिये उसे आत्मसंयम करना आवश्यक था। कर्षणजी मूल जी को भागने से रोकता है कि कहीं वन बालक की मृत्यु न बने। उसे क्या पता था कि अमृत निर्जन स्थानों में है, जिसकी उपलब्धि से समस्त जगत् को मृत्यु के भय से छुड़ाया जा सकता है। दयानन्द अपनी आयु के इतने वर्ष किसी व्याघ्र की गुफा में छिपा न था। वह अपनी आत्मा में स्थित उस अन्तरीय ज्योति को वायु के झकोरों से बचा रहा था, जिससे संसार में फिर वेद का दीपक प्रदीप्त होना था।

क्या यह आत्म-संयम केवल ऋषियों तथा नेताओं के लिये नियत है ? नहीं। प्रत्येक मनुष्य संसार में नेता है। जो नेतृत्व का नाश करता है वह अपनी दैवीशक्तियों से अनभिज्ञ है। आत्म-हत्यारे ने आत्म-गौरव को नहीं पहिचाना। अरे तुझे अधिकार है तू सबको पीछे लगा। हाँ ! ईश्वरीय नियमों को बदलने का प्रयत्न मत कर। बदलेगा तो स्वयं बदला जायेगा। हमारे पूर्वजों की दूरदर्शी आँख प्रकृति के अथाह समुद्र में डुबकी लगाती और क्षण-क्षण में शिक्षा के अमूल्य मोती बाहर लाती थी। वेद मानुषीय जीवन को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक मनुष्य को आत्म-विकास का समान अवसर देता है। ब्रह्मचर्य की अवस्था आत्म-संयम की अवस्था है। जिस अभिप्राय से दयानन्द वनों में फिरता रहा, मुहम्मद पर्वत की गुफा में गुप्त रहा, बुद्ध ने निरर्थक तपस्याओं के पश्चात् बोधि वृक्ष के नीचे बोधि-तत्व पाया, उसी अभिप्राय की सिद्धि प्रत्येक आर्य को अपनी आयु के प्रथम २५ वर्षों में करनी है। फिर वह गृहस्थ में आए और जगत्पुरी में एक पूर्णतया सज्जित विद्यार्थी की भाँति प्रविष्ट हो। शोक ! माँ बाप ने तुझे वन का विद्यार्थी न बनाया। क्या अब तुझ ऐसों के लिये आशा नहीं है ? है ! अवश्य है ! तू अपने प्रत्येक दिन के पूर्व भाग को ब्रह्मचर्य के सदृश बना। अर्थात् नगर से दूर किसी वन में अथवा पर्वत पर चला जाया कर। यदि तू प्रतिदिन खोए हुए बल को फिर अपनी ओर बुलाता रहा, तो तेरे लिए फिर से बलयुक्त हो जाना कुछ कठिन बात नहीं। गृहस्थ के धन्धों में दिनके मध्यका भाग व्यतीत कर। सायङ्काल होते ही फिर घर से पृथक् हो जा और प्राकृतिक दृश्यों की सैर तथा उस महती शक्ति को

X मुहम्मदी मतके प्रवर्तक। इस्लाम फैलाने से पूर्व 'हरा' नाम पहाड़ी में ध्यान-निमग्न रहे। इनका जन्म ५१४ वि० में हुआ और ५८५ वि० में इस देह को छोड़ा।

स्मरण कर जिसे अपने अन्दर देखता हुआ भी तू उसके संसर्ग से वञ्चित है। यह गृहस्थ में ही संन्यास अथवा वानप्रस्थ होगा। भाई ! क्या पता है तू कितना काल जिये। तुझे वानप्रस्थ होने का अवसर मिले वा न, जीवन-लता के चार फल अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तू इकट्ठे ही लाभ कर। एक ही आश्रम में चारों आश्रमों का आनन्द लूट और सफल-मनोरथ हो।

५-अपूर्व डायरी

तुझे पहला पाठ यह पढ़ाया कि अपने कृत्यों पर ध्यान दे। तुझे चिन्ता हुई कि भूतल पर मेरे कर्तव्य क्या हैं ? ऋषियों ने इसकी तालिका बना दी है, जो एक अपूर्व क्रम के साथ सन्ध्या मन्त्रों में समाविष्ट है।

सावितृ मन्त्र के साथ सविता देव 'ओ३म्' का आश्रय ले, जो तेरी उन्नतिका अचूक उपाय है और 'शन्नोदेवी' इत्यादि मंत्र द्वारा चित्तको सब प्रकार के विकारों से रिक्त कर। इन्द्रिय-स्पर्श से शरीर की वृद्धि सम्बन्धी, मार्जन मन्त्रों से मन तथा इन्द्रियों की शुद्धि सम्बन्धी कर्तव्य जान। प्राणायाम तुझे शारीरिक बल तथा मानसिक नैरोग्य देगा। अघमर्षण से पाप का नाश कर और मनसा परिक्रमा से गृहस्थ तथा समाज, नहीं ! नहीं ! सारे संसार को प्रेमपात्र जानकर निर्बैर तथा द्वेषशून्य हो जा। आगे उपस्थान है, अर्थात् परमात्मा के निकट बैठना। यदि भावना सामर्थ्ययुक्त है, और दिव्य-चक्षु खोल सकता है, तो उस अदर्शनीय का दर्शन कर कृत्कृत्य हो। कैसी अपूर्व सीढ़ी है। शरीर से मन, मन से आत्मा, आत्मा से परमात्मा तक पहुँचा दिया। और तुझे चाहिए ही क्या ? संसार भर की प्रार्थनाएँ पढ़जा। और कहीं यह बात नहीं।

मेरे प्रिय ! जीवन के सब अङ्गों में अपना कर्तव्य समझ चुका। परमात्मा को साक्षी मान इन कर्तव्यों का चिन्तन किया। यह दूसरे शब्दों में तेरे व्रत हैं। दिनभर इनका पालन करना। परमात्मा से ठट्ठा नहीं करना। उसको बीच में लाकर उपहास करने का प्रयत्न मत कर। बड़े से बड़े न्यायाधीश के समक्ष तूने अपना प्रतिज्ञा-पत्र (संध्या में आये ब्रत को) रजिस्टरी कराया। उसको तोड़ेगा तो अतीव दण्ड का भागी होगा। उपासकों की भाषा में प्रार्थना और प्रतिज्ञा पर्यायवाची हैं। तूने शुद्ध हृदय से प्रण किया। जगज्जनी ने तुझे आशीर्वाद दिया। शिवाजी + की माता की आशीष निरर्थक नहीं हुई। राजपूत जननियाँ अपने आशीर्वाद का फल अपने वीर बच्चों के बलिदान अथवा विकट

+ मराठा राज्य का संस्थापक। इसका जन्म १५७७ वि० में हुआ। नीति और धीरता में अद्वितीय था। जागीरदार के लड़के से राजा हुआ। मृतप्राय आर्यजाति में फिरसे प्राण डाले। क्षत्रियों के रुधिर को गरमाया और छीने हुए राज्य को आत्मसात् किया। राज्यविधि चातुर्यपूर्ण थी। औरङ्गजेब तक ने इस वीर का लोहा माना।

वीरता के रूप में देख कृत्कृत्य हुईं। जापानियों ने अपने दूध पिलाने वालियों के शुभ शब्दों का मान रूसियों को विनष्ट करके रखा। तुम जगज्जननी के आशीर्वाद का क्या सत्कार करते हो ? तुम्हारा दिन का व्यवहार दर्शायेगा। प्रातःकाल की सन्ध्या तुम्हारा ब्रह्मचर्य है, उसमें यह प्रतिज्ञाएँ करना। सायंकाल की सन्ध्या-संन्यास है, इसमें इन प्रतिज्ञाओं की आलोचना करना कि पूरी हुई या नहीं ! उक्त दोनों आश्रम 'ओ३म्' में विचरने के हैं। तभी तो गृहस्थ में ब्रह्मचर्य और संन्यास का स्वाद चखाया।

मन्दिर के पुजारियों का जनता के हृदय पर क्या प्रभाव है। विचारशील उन्हें दुराचारी समझते हैं। कारण यह है कि उनका समय तो प्रायः ईश्वर स्मरण में जाता है, फिर भी वह आचरण से नीचे रहते हैं। भाई ! वह केवल जिह्वा से राम नाम रटते हैं, मन पर उसका लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी जिह्वा ग्रामोफोन की तरह चलती रहती है, परन्तु मन में कुविचार ही डेरा डाले रहते हैं। जप और है, जीवन और। तुम सन्ध्या का सम्बन्ध जीवन से न तोड़ना। आचार-व्यवहार में सदा सन्ध्या मन्त्रों की झलक विद्यमान रहे। यह क्या कि विध तो मिलाओ, पर व्यापार न करो।

जिन प्रार्थनाओं में जीव अपने आप को पतित तथा पापी कहे और परमात्मा को पतितपावन और नित्य प्रति एक ही से शब्दों में गिड़गिड़ा कर कहा करे, हे भगवान ! तू मुझे उठा, पर स्वयं उठने में यत्न न करे, वह प्रार्थनाएँ निरर्थक हैं यदि आज भी मैं उतना ही पापी हूँ जितना कल था, तो ईश्वर ने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी और मेरा यह भ्रम कि वह पतितोद्धारक है, निर्मूल सा है। रोज ऐसे शब्द दुहराने से उपासक और उसास्य, में एक स्थाई सम्बन्ध स्थिर हो जाता है। उपासक सदैव पापी रहेगा और परमात्मा को भावी उद्धारक समझ मोद मनाएगा। वह समय कभी न आएगा, जब वह भावी उद्धारकर्ता वर्तमान उद्धारकर्ता बने। यह ईश्वर पर लाँछन है। सन्ध्या ऐसी आत्मघातक प्रार्थनाओं से रहित है। पाप का स्मरण पश्चात्ताप के लिए कर। अपने आप को योंही पापी कहना पुण्य नहीं। तू जो प्रार्थनाएँ सन्ध्या द्वारा अथवा अन्य शब्दों में किया करता है, उन्हें सार्थक जान और सार्थक बना और प्रतिदिन पहले की अपेक्षा कुछ उन्नति करना जा। फ्रैंक्लिन ने अपने जीवन को डायरी से सुधारा था। उसकी डायरी से तेरी सन्ध्या अत्यन्त श्रेष्ठ है। (हाँ, हमें सन्ध्या का डायरी के रूप में उपयोग करना आना चाहिए।)

६–जी नहीं मानता ?

पिछले शीर्षकों में हमने उपासना की आवश्यकता पर बल दिया था। हम कल्पना करते हैं कि अब पाठक प्रातः सायं ईश्वर के समीप बैठने, अपने

आचरण पर ध्यान रखने, तथा अपनी त्रुटियों को मिटाने के लिए बल की याचना करने पर कटिबद्ध हैं । हमने ऊपर बताया कि इन सब मनोरथों की सिद्धि सम्यक्तया सन्ध्या से ही हो सकती है । इस पर उपासक की कुछ शंकाएँ हैं । लो ! हम उनका भी निवारण कर दें । मुमुक्षु के प्रश्न जिज्ञासुओं के से प्रश्न हैं । वह यह नहीं कि थोड़ा-सा संशय होने पर धर्म की मर्यादा छोड़ दे । यदि उसकी बातों का उत्तर आज न भी दें, तो भी वह सन्ध्या करता रहेगा, और उस अवसर की धैर्य से प्रतीक्षा करेगा, जब उसके मन से कंटक निकाल दिया जाय ताकि जिस शान्ति की उपलब्धि के लिए उसने आसन लगाया है, उसे वह पूर्णतया प्राप्त हो । यही सम्मति हम प्रत्येक आर्य भाई को देंगे, कि वह थोड़ा सा सन्देह होने पर नैतिक कर्म को छोड़ें नहीं । सम्भव है, उन्हीं की बुद्धि में भ्रम हो ।

पहला संशय

सन्ध्या संस्कृत में ही क्यों करूँ ? मुझे उसके अर्थ नहीं आते ! आर्य-भाषा अपनी जातीय तथा राष्ट्र-भाषा है । मैं उसी में अपने प्रभु से बात करूँगा । ठीक ! उपासना-मंडल के पक्षी तू पार्थिव भाषाओं के आकाश से ऊँचा उड़ । अजात के आगे जाति का बखेड़ा न डाल । इस ममता को छोड़ । तू ईश्वर की वाणी में ईश्वर से वार्तालाप कर । जगज्जननी की गोद में बैठ कर तू वही सन्ध्या सुना, जो तुझे सृष्टि के आदि में सिखाई गई । वेदों की भाषा किसी जाति अथवा देश विशेष की भाषा नहीं । यदि है तो मनुष्यमात्र की, नहीं तो किसी की नहीं । संसार की तो गुप्त-गुप्त भाषाओं से भी तू परिचय पाने का यत्न करता है, और पुरानी तथा नई पुस्तकों, शिलाओं लिपियों तथा स्मारकों, की खोज से पुराने मनुष्यों के मनोविकास का पता लगाता है, और उस सकल वाणी के स्रोत, ज्ञान के भण्डार वेद की ओर जाता ही नहीं, जिसमें जातियों के साँझे पूर्वक परमेश्वर ने अपना अनादि विचार प्रकट किया । वेद के अर्थ सरल हैं । आदिम ऋषि बिना कुछ और जाने इन मंत्रों का अभिप्राय जान सके । तुझे भी इनमें बहुत परिश्रम न होगा ।

(२) सन्तोष नहीं हुआ ? जो मन में है, कह ! निःशङ्क होकर कह । जी नहीं मानता । आज भी यह सन्ध्या ! बड़े होकर भी यह सन्ध्या वृद्ध की भी यही, पापी की भी यही, पुण्यात्मा की भी यही ? न आयु का भेद न मनोविकास का भेद ?

प्राणों से अधिक प्रिय मानस विद्या के पूर्णवेत्ता पर सांसारिक मनोविद्या (Psychology) लागू नहीं । यह मार्ग कुछ विचित्र है । जब तू इसमें प्रविष्ट हुआ और कुछ उन्नति की तो सब रहस्य तुझ पर खुल जायेंगे । यहाँ जो 'अ'

है वहीं अः है । जो बच्चे खेल के खिलौने हैं, वही युवक के उत्साह एवं पुरुषार्थ की सामग्री है । जवान का प्रवृत्ति मार्ग वही, बुड्ढे का निवृत्ति- मार्ग वही । योगी के योग का साधन वही, रोगी के रोग का निवारण वही । पापी पाप का नाश करे, धर्मात्मा धर्म का प्रकाश पाए । यह मंत्र केवल सिद्धान्त है । प्रयोग अवस्था के अनुसार होगा ।

वेद का चमत्कार

हमने लाख यत्न किया, इन मन्त्रों का अनुवाद आर्य भाषा, उर्दू तथा इङ्गलिश में कर दें, परन्तु सफलता न हुई । कारण यह कि उस भाषा में किसी एक मनुष्य के किसी एक क्षण के विचार एक से शब्दों में आ सकते हैं ? सबके लिए एक बात बन जानी सम्भव नहीं । वेद का चमत्कार निराला है । यह वह दर्पण है, जिसमें प्रत्येक मुख अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है । तू भी इस उज्ज्वल शांशे में अपनी उज्ज्वल आकृति देख !

अवस्थाएँ भिन्न सही, पर आदर्श एक है । वेद के मंत्र प्रत्येक के लिये एक सा संकेत करते हैं, जिसने समझा, तर गया ! न जाना, रह गया । अन्य मतों पर जिह्वा न खुलवाओ । सब अपने-अपने समय की झलक रखते हैं, और वेद की झलक सब समयों में है । सब पर अपने-अपने देश की मोहर हैं, और वेद की मोहर सब देशों पर है ।

सब अपने-अपने प्रवर्तक की परछाईं लिये हैं । वेद बिना परछाईं वाले की परछाईं है । बालक दूर के दृश्य को न देखे उसे पता न सही कि उसकी यात्रा का अन्त कहाँ होगा । पर क्या उसे सड़क भी वह न दिखाएँ जिस पर उससे बड़े उसके अग्रगामी गए हैं ।

प्रभु का द्वार सबके लिये खुला है

भाई ! कह दिया । ब्रह्म यज्ञ का उद्देश्य हृदय-क्षेत्र का फैलाना है । तू क्यों उसे संकुचित करता है । शूद्र है ? आ ! तुझे ब्राह्मण के साथ बिठाऊँ । वैश्य है ? क्षत्रियों की पंक्ति में बैठे ।

बुड्ढे को लज्जा है, मैं बालक के पीछे बिठाया जाऊँगा । पिता को चिन्ता है मुझसे पुत्र उच्च-स्थान प्राप्त करेगा । पुरुष भयभीत हैं, कहीं स्त्रियाँ ही हमसे अधिक अधिकार न ले लें । सांसारिक लोग सांसारिक शृङ्खलाओं में जकड़े खड़े हैं । कभी मुक्त हुए नहीं, मुक्ति चाहते नहीं । समस्त भेदों के नाशक, असमानों में समान, सर्वव्यापक परमात्मा के दरबार में ऊँच नीच कैसी ?

बाल-भानु की सुन्दरता में नहाई हुई किरण किस आँख को प्रकाश के

साथ आनन्द नही देती ? तारों भरे आकाश की टिमटिमाती ज्योति न पुरुष से पर्दा करती है न स्त्री से। वर्षा ऋतु के पपीहेका स्वर न शूद्र के कान में सिक्का पिघलवाता है न ब्राह्मण के। यह और बात है कि द्रष्टा की दृष्टि तथा श्रोता की श्रुति उसके अनुभव में भेद कर दे। पर दृश्य तथा श्रुत तो एक रहेगा ही।

ऐसे ही सन्ध्या के मन्त्र एक, उपासकों की अवस्था भिन्न-भिन्न। अपने अपने बोध के अनुसार चिन्तन करें और लाभ उठावें। स्वच्छ जलवायु रोगी के रोग को मिटाता है, तो स्वस्थ के स्वास्थ्य को भी बढ़ाता है। फिर सन्ध्या में पापी और पुण्यात्मा का भेद क्या ?

परमात्मा के अमृत पुत्रो ! सदैव बाह्य भेदों की गोदड़ियों में गुप्त रहने वालो ! अपने स्वरूप को पहिचानो। उज्ज्वल सूर्य को कालिमामय न करो। बाह्य ओढ़नों को उतारो। नंगधड़ंगा जीव लाडेश्वरी माता के गोद में लाड करने चला है।

शूद्र भाई ! तू भी ब्राह्मण के अमृत पिता का अमृत पुत्र है। देवि ! हमारी उपास्या देवी ही है। सत्तरे बहत्तरे ! परमात्मा की आयु का पार ही नहीं। वह अतिवृद्ध है। बालक ! तू नवजात है तो परमात्मा की शक्ति भी नित्य नई है। फिर क्या आ जाओ ! एक बार तो भेद रहित अभेद्य के आगे इन भयंकर भेदों को छिन्न भिन्न कर डालें और प्रभु के प्रेम मन्दिर में अभेद हो जाएँ।

—०—

मन लगाने की विधि

मन की चञ्चलता सम्यक् ध्यान में बाधक है। योगियों का सबसे बड़ा शत्रु मन कहा जाता है। किसी ने मन को मूर्ख कहकर, किसी ने शठ बताकर उसके सुधारने की आवश्यकता बताई है। इसमें सन्देह नहीं कि बिगड़ा हुआ मन मनुष्य को ठौर ठिकाना छुड़वा देता है। परन्तु सध जाय तो ऐसा योग का उपयोगी साधन कोई नहीं।

वस्तुतः मनकी चञ्चलता इतनी निन्द्य नहीं जितनी बताई जाती है। चञ्चल मन प्रतिभा का भण्डार है। जितनी तीव्र मन की गति होगी, उतना अधिक तत्वों का ग्रहण अन्तःकरण में होगा। कई मनुष्य अनेक स्वरों तथा भाषाओं को एक साथ सुन कर उनको समझ ही नहीं जाते किन्तु उनके गुण दोषों की परीक्षा भी कर सकते हैं। उनका मन क्षणमात्र में कई विषयों में दौड़ धूप कर लेता है। एक विषय के कई अवयव होते हैं। जिनके मन की गति वेगवती है, वह बहुत शीघ्र एक अवयव से दूसरे और तीसरे का घेरा डाल लेते हैं। मन्द गति वाले घण्टों एक ही अवयव पर नष्ट कर देते हैं।

समाहित और स्तब्ध मनमें भेद है। समाहित वह मन है जिसकी गति

को रोका नहीं गया, किन्तु नियम में लाया गया है। स्तब्ध वह है जिसमें गति ही नहीं। ऐसा मूढ़ों का मन है कि जिन्हें कुछ आता नहीं।

इसमें कुछ लाभ नहीं कि मन केवल एक विषय पर ही घण्टों अटका रहे। लाभ इसमें है कि उस विषय के प्रत्येक अवयव में उतनी गहरी डुबकी मारे जितनी उसके सम्यक् ज्ञान के लिए चाहिए। अर्थात् उसमें गति तो रहे परन्तु उसकी वृत्ति गहराई की ओर हो। जब उस अवयव से निवृत्त हो तत्काल ही दूसरे अवयव में चला जाए। इसी से उसकी चाल सूक्ष्म होती है, और सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय की ओर प्रवृत्ति होकर गूढ़ तत्वों की उपलब्धि का सामर्थ्य आता है।

मूर्तिपूजन में यही दोष है कि उसमे गहराई नहीं। पत्थर अथवा पीतल पर ठहराने से मन स्तब्ध ही होगा। उसे जड़ पदार्थ का ही विचार रहेगा क्योंकि उसकी वृत्ति स्थूल है। इससे तो मन चंचल रहे, अच्छा है।

साकारोपासना निराकारोपासन की भूमिका कही जाती है, कि जब मन स्थूल पर रुकने लगा, इसे शनैः-शनैः सूक्ष्म ध्यान का अभ्यास करायेंगे। भला यह क्योंकर होगा ? पत्थर के निरन्तर ध्यान से बुद्धि पाषाणवत् स्तब्ध हो जाती है। फिर वह इस योग्य ही नहीं रहती कि उसे सूक्ष्म विचारों में डाला जाए।

गणित ध्यान का विषय है। इसके लिए अध्यापक पहिले मूर्ति-पूजन का अभ्यास नहीं कराता कि पहले बालक का चित्त एकाग्र हो ले, फिर १, २ सिखायेंगे। प्रथम ही गणित में डाल लेता है। छात्रों की सुविधा के लिए कभी प्राकृतिक प्रयोगों से, कभी रेखाओं और चित्रों से सहायता लेता है। वस्तु और चित्त का अनुपात काल्पनिक होता है परन्तु आकार-साम्य वास्तविक है।

योगी निराकार के गुणों का चिन्तन आकार प्रकृति की सहायता से करता है। वह सृष्टि जगत् में सृष्टिकर्ता के गुणों को पाता और आनन्द में निमग्न होता है। इस एक ही विषय में मन की सारी चञ्चलता समाप्त हो जाए, फिर भी उसकी समाधि वैसी की वैसी बनी रहेगी। अघमर्षण मन्त्र में इसी विधि से हृदय क्षेत्र में परमात्मा से प्यार का पौधा लगाया है। इसमें मूर्ति को सामने रखकर क्या विचारा ? यही कि इसने सृष्टि नहीं की ? यह संसार की नियन्त्री नहीं। यदि मूर्ति अपनी भी नियन्त्री होती, तो भी 'नेति' कहकर परमात्मा का ध्यान कर लेते।

सर्व-शक्तिमान् के ध्यान में बाहुबल, विद्या-बल, बुद्धि-बल, समाज-बल, आत्मिक बल इत्यादि कई बलों का विचार सहसा मन में आएगा। अनेक पहलवानों, असंख्य नीतिज्ञों, अगण्य विद्वान् और समाज समूहों का चित्र आँखों के सामने फिरेगा। इन सबका प्रत्यक्ष स्वरूप आँखें न देख पाएँगी, परन्तु बुद्धि समझ लेगी। फिर जी में आएगा 'नेति'—इतना नहीं।

ऐसे ही परमात्मा के और गुणों पर मन को अत्यन्त वेग से काम लेना होगा । अचिन्त्य का एक-एक गुण अथाह है । वेद ने उसे 'सदावृधः' कहा है अर्थात् जितना उसे समझो उतना आगे बढ़ता जाता है ।

साकार का पूजन ऐसे ध्यान में बाधक है । मूर्ति मन की गति को स्तब्ध करती है, और हमें आवश्यकता उसे नियमबद्ध करने की है ।

समाधि में चित्त एक विषय का ही हो रहता है, दूसरे पदार्थों में नहीं जाता, यद्यपि उपस्थित विषय में उसका वेग दूर की खोज निकालता है सही । वेद में मन के लिए यह प्रार्थना नहीं की, कि निःसङ्कल्प हो, किन्तु उसका शिव सङ्कल्प होना माँगा है । एक विषय के निरन्तर ध्यान में उसके अवयवों के बहुत्व के होते हुए भी उनका परस्पर सम्बन्ध बिगड़ने नहीं पाता । यही आनन्द का कारण है ।

मन को समाहित करने के लिए उसको ऐसा विषय दो जिसमें इसको दौड़-धूप का खुला स्थान हो । परमात्मा के प्रत्येक गुण में ऐसी विशालता की पराकाष्ठा है । अनन्त के किसी गुण का अन्त नहीं । यदि शान्त पदार्थ पर ध्यान जमाया, तो अनन्त की ओर जाने की अपेक्षा उससे विमुख होने का अधिक यत्न किया ।

सन्ध्या के मन्त्रों में कहीं सृष्टि के वैचित्र्य को देखकर, कहीं इन्द्रियों के लिए बल माँगकर, कहीं पवित्रता के प्रार्थी होकर, कहीं छहों दिशाओं का मानसिक चक्र लगाकर, कहीं कल्याण, कहीं अभय की याचना से परमात्मा के स्वरूप को पहचानना चाहा है ।

मंत्रों के अर्थ आने से पूर्व इस रहस्य से वंचित रहोगे निरर्थक शंख जब तक बजे बजाओ । जब अर्थ आ गये, तब मन का समाहित होना न होना तुम्हारे यत्न पर निर्भर है । मुख मन्त्रों के उच्चारण से शुद्ध होगा । मन लोक-लोकान्तरों की सुधि लेगा । इस चञ्चलता से घबराओ मत । इसके आगे धातु का लिङ्ग खड़ा किया तो उसे और चंचल बना लोगे । यह मन्त्र से विमुख होने का एक और साधन होगा । मन्त्र मननवाची धातु से है । सन्ध्या में मन की एकाग्रता यह है कि मन्त्रार्थ का ध्यान रहे, सो मूर्ति पर तो लिखा नहीं ।

इसकी सुगम और अचूक विधि यह है कि बलपूर्वक अपनी वृत्ति उन भावों पर रखो जो मन्त्रों के शब्द-जाल में गूंथे हुए हैं । जिस मंत्र के अर्थ से मन भागे, उसका उच्चारण एक बार और करो । जब तक प्रत्येक मन्त्र का अर्थ एक बार हृदय में से न गुजर जाय तब तक उस मंत्र को न छोड़ो । कुछ काल के अभ्यास से सन्ध्या तुम्हारे स्वभाव का अङ्ग बन जाएगी और ज्योंही किसी मन्त्र पर मन लगाओगे, उसका अर्थ स्फुरित होने लगेगा ।

७–माँगने योग्य वस्तु

माँगने की विधि वेद ने सिखाई है। संसार की कोई कमनीय वस्तु नहीं जिसके लिए वेद में याचना न की हो। शरीर की पुष्टि, धन-धान्य, गौएँ घोड़े, पशु, अन्तःकरण की शुद्धि, पुत्र, प्रजा, शत्रुओं पर विजय, कृषि, व्यापार, ब्रह्मतेज, सबके लिए परम दयालु परमात्मा के आगे हाथ पसारे हैं।

हम ऊपर बता चुके हैं कि उपासकों की परिभाषा में प्रार्थना और प्रतिज्ञा पर्याय हैं। हाथ पसारे हैं तो हाथ हिलाने भी स्वयं होंगे।

वेद का वैचित्र्य यह है कि इसमें जीवन के सम्पूर्ण अङ्गों पर एक साथ ही दृष्टि डाली है। जहाँ ब्रह्म-तेज माँगा है, वहाँ भौतिक वैभव को भी हाथ से जाने नहीं दिया। वेद में न अधूरे आदर्श हैं, न अधूरे प्रयत्नों पर बल दिया है। ब्राह्मण ग्रन्थ की वह श्रुति जो हम हवन करते समय बार-बार दोहराते हैं कितनी स्पष्ट है, जिसमें प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस्, अन्न जो खाद्य हो अर्थात् खाने योग्य, इन सब पदार्थों के लिये इकट्ठी प्रार्थना की है।

यहाँ समृद्धि का अर्थ रुपये पैसे से नहीं किया, किन्तु उन वस्तुओं को एक-एक करके गिनाया है जो वास्तविक सम्पत्ति हैं। आधुनिक भारत पिछली कई शताब्दियों की अपेक्षा रुपया अधिक रखता है, पर फिर भी दुर्भिक्ष इतना है कि पहले कभी देखने सुनने में नहीं आया। अर्थशास्त्र रुपये को धन नहीं मानता, किन्तु इसकी क्रय-शक्ति को धन मानता है। इस रहस्य को हमारे पूर्वजों ने भली भाँति जाना था।

आधुनिक वैश्य जाति को अर्थशास्त्र की इस शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सिक्कों के पृथ्वी में दबा रखने से हम समृद्धिशाली न होंगे, इनके प्रयोग से अर्थात् उस सामग्री के हस्तगत करने और अपनी तथा जाति की देह में खपाने से ही आढ्य बनेंगे जो तुष्टि पुष्टि देने वाली है।

गत वर्षों के भयंकर युद्ध ने जातियों के कान खोले हैं। बरसते हुए गोलों की गरज ने यह सच्चाई का नाद शान्त-अशान्त दोनों प्रकार के हृदयों में पहुँचाया है कि आगे को जाति का धन जाति के व्यक्तियों के शरीर तथा मस्तिष्क होंगे।

आर्य बालक गायत्री मन्त्र में बुद्धि-बल की प्रार्थना करता है। यह मंत्र इस जाति का मूल मंत्र है। इस रहस्य को जितना हमने पहचाना है, किसी ने नहीं पहिचाना, कि बुद्धि मूल धन है।

शारीरिक बल के लिये सदैव इन्द्रिय-स्पर्श किया जाता है। एक-एक अंग को टटोल-टटोल कर उसकी पुष्टि की परख की जाती है। जाति-बल,

बुद्धि-बल, समाज-बल, ब्रह्म-बल, सबके लिये बल-स्वरूप का किवाड़ खटखटाया जाता है ।

भारतवासियों का देश है । दार्शनिक जब एक वस्तु की सिद्धि पर बल देता है, तो उसे दूसरी सब वस्तुओं का मानो विस्मरण-सा हो जाता है । यह सच्चाई स्वामी दयानन्दने सिखाई है कि विविध दर्शन एक दूसरे की पूर्ति करते हैं । जैसे आजकल का वैद्य शरीर का निदान तथा औषधियों के गुणों का ज्ञान रखता है और उसे नक्षत्र-विद्या का पता नहीं तो भी वह नक्षत्रों के होने का निषेध नहीं करता, ऐसे ही, सांख्य प्रकृति को मुख्य विषय मानता है और ईश्वर का विशेष वर्णन नहीं करता । ऐसे ही वेदान्त में ब्रह्मज्ञान का मुख्यरूपेण विवेचन किया है और दूसरे पदार्थों पर गौण दृष्टि डाली है ।

नवीन वेदान्त इस मुख्य और गौण के भेद को न जान कर केवल ब्रह्म के अस्तित्व पर अवलम्बित हुआ । अकेले ब्रह्म की चाह करते-करते प्रकृति और जीव के महत्व को ही भुला बैठे । संसार को स्वप्न क्या कहा, अपने जीवन से जागृति की झलक ही मिटा दी ।

ऐसे समय में रट चली कि संसार असार है । इसकी इच्छा करना मूर्खता है । परमात्मा से परमात्मा माँगो । परमात्मा से भिन्न जब कुछ था ही नहीं तो फिर उसे माँगते कैसे ?

सच पूछो तो नवीन वेदान्त आलस्य का बहाना था । भारत को पुरुषार्थहीन इसी सिद्धान्त ने किया ।

जो अनेक भाववादी हैं वे इस प्रार्थना का कुछ और अर्थ लेते हैं । उनके मन में वाञ्छनीय पदार्थों में उत्तम परमात्मा है । उसको पाकर किसी और पदार्थ की चाह नहीं रहती । ऐसे लोगों ने परमात्मा को सांसारिक पदार्थों की भाँति अधिकार में आने वाली वस्तु माना है और प्रकृति और परमात्मा को परस्पर शत्रु समझकर एक की प्रीति में दूसरे का त्याग आवश्यक जाना है ।

वस्तुतः यह भूल है । परमात्मा प्रकृति से परमार्थतया पृथक् हैं, परन्तु नियन्ता-नियमित, तथा व्यापक-व्याप्य भाव से इन दोनों में अटूट सम्बन्ध है । शक्ति का क्षेत्र न हो तो शक्ति कैसी ? परमेश्वर का परम ऐश्वर्य प्रकृति के प्रभुत्व ही से है ।

परमात्मा प्रकृति के बिना मिले कैसे ? वेद परमात्मा को राजा कहता है । चक्रवर्ती राज्य माँगना परमात्मा के एक बड़े गुण की याचना करना है । वैभव की सिद्धि के लिए प्रयत्न करना विभु की वास्तविक प्राप्ति का साधन करना है ।

परमात्मा ज्ञानी है, इसलिए ज्ञान चाहो । परमात्मा बली हैं, इसलिए बल चाहो । परमात्मा अधिपतियों के अधिपति हैं । तुम्हारी उपासना यह है कि तुम

भी अपने सामर्थ्यानुसार ही आधिपत्य माँगो और प्राप्त करो । परमात्मा का व्यापार तथा कला-कौशल समस्त संसार की कलाओं से प्रमाणित है । उसी की कृति से सम्पूर्ण कृति है । बिना किंकरों के वह किंकरों की भी सेवा करता है। परमात्मा कर्म करते हैं । तुम कर्म करो, तब परमात्मा के प्रिय होगे ।

सांसारिक बड़ाई हेय नहीं, उपादेय हैं । जितने बड़े होगे उतने परमात्मा के निकट पहुँचोगे ।

प्रवृत्ति में निवृत्ति की झलक झलकानी चाहिए । प्राकृतिक पदार्थों पर प्रभुत्व पाकर उनके दास न बन जाओ । धन उत्तम वस्तु है यदि हम उसके स्वामी हों । वह धार्मिक नहीं जो धनी नहीं, जो आवश्यकता भर कमा नहीं सकता, उसको जीवन का अधिकार नहीं । अपने पेट से बचता है, दूसरों का पेट भरो । सत्यतापूर्वक रुपया कमाने में बस न करो ।

धन हेय वहाँ होता है, जहाँ धर्म को त्याग दिया जाय । पाप-पुण्य दोनों का सहायक धन है । दोष हमारी वृत्ति तथा उपयोग का है । पाप के डर से धन को छोड़ना भीरुता है । दरिद्रता और अधिक पाप कराती है । वीरों की भाँति जीवन को बलमय बनाओ ।

आज के भारत को धन से विमुख करना उसे मृत्यु का ग्रास बनाना है । भूख को भ्रान्ति कहने से भूखे की तृप्ति नहीं होगी । परमात्मा से परमात्मा मंगवाना है तो पहेलियों में मंगवाओ । स्पष्ट कहो धन पाना परमात्मा पाना है । बल पाना परमात्मा पाना है । धर्म पाना परमात्मा पाना है । इन पदार्थ का कुप्रयोग घर आए परमात्मा का अनादर करना है ।

८–बहुरूपी संध्या

यात्री घर से चला । ग्राम से ४ मील की दूरी पर स्टेशन था । रास्ते में हरे भरे खेत आये । पास एक राजवाहा था । पथिक थक गया था । उसने चाहा, दो घूँट पानी पी लूँ । वाहे के निकट गया, तो क्या देखता है कि एक महाशय आँखें मूँदे, पलत्थी लगाये, गर्दन को कील की तरह सीधा किये, विचार में मस्त हैं, मानो कोई महात्मा योग साधन करते हैं । पथिक ने चाहा, एक बार माथा टेक दूँ पर न भगवा वेष था और न राख भभूति ही मली हुई थी । इसलिए रुक गया । फिर भी मन ही मन संशय रहा ।

पानी पिया । स्टेशन पर आया । गाड़ी के आने में देर थी । वहाँ यात्रियों का दृश्य देखने लगा । खेतवाला महात्मा विस्मृतसा हो गया । स्टेशन के चौंतरे पर रेलकी पटरी के पास ही एक जैन्टलमैन कोट पतलून डांटे, छड़ी घुमाते, बूट के शब्द से ईंटों पर कड़कड़ करते चल रहे हैं । साथ-साथ कुछ

बुड़बुड़ा भी रहे थे। विचार आया 'जपजी' होगा। समीप गया तो वह 'शब्द' न थे। 'ओ३म्' से आरम्भ होकर कुछ वाक्य कहे जाते थे। यही 'ओ३म्' शब्द खेत वाले महात्मा भी बोल रहे थे। सो फिर उनका स्मरण आया। पूछने की उत्कण्ठा हुई, पर साहस न पड़ा।

गाड़ी में बैठे तो किसी बाबू साहब ने बूट खोला और खाना खाने से पूर्व उसी स्थिति में बैठ गया जिसमें खेत वाले महात्मा बैठे थे। कुछ देर अन्तर्ध्यान रहकर उक्त महानुभाव ने खाना खाया।

दूसरे दिन नगर में उतरे। विचित्र समारोह था। इधर झण्डियाँ, उधर झण्डियाँ। गाड़ियों पर भजनीक मनोहर स्वरों से वायु-मण्डल को गुंजायमान कर रहे थे। भीड़ इतनी थी कि ठहरने को ठिकाना न था। सायं समय था। भजनीकों ने मधुर वाणी से वही 'ओ३म्' की रट छेड़ी, और वही वाक्य गरज-गरज कर गाने लगे, जो स्टेशन के जैन्टलमैन बुड़बुड़ा रहे थे।

दूसरे दिन समाजका वार्षिकोत्सव था। भजन तथा उपदेश होते रहे। वही समय आया और 'ओ३म्' की रट छिड़ी। यहाँ सब इकट्ठे बोल रहे थे।

हमारे पथिक को ज्ञात हो चुका था कि यह सन्ध्या थी। इसका अभिप्राय भी जान चुका था कि परमात्मा का स्मरण है। शंका थी तो यह कि इसके इतने विविध रूप क्यों हैं ? क्या इस क्रिया के कोई नियम नहीं हैं ? स्थान-विषयक, समय-विषयक, आसन-विषयक, स्वर-विषयक ?

प्रिय पथिक ! आ तुझे सन्ध्या के नियम बताऊँ। सम्यक्तया महात्मा ही सन्ध्या कर रहे थे। दूसरे सब उस आदर्शको पहुँचने के अधूरे यत्न हैं। विविध मनुष्यों की विविध क्रियाएँ उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की द्योतक हैं। इस पर उदाहरण लें।

कभी स्कूल गया है ? और ध्यापूर्वक वहाँ की क्रिया देखी है ? छोटी श्रेणियाँ कोलाहल करती हैं। अनजान अध्यापक डण्डे से कोलाहल बन्द कराता है। वह पढ़ते नहीं। चुप करा दो, उन्हें याद ही कुछ न होगा। बड़ी श्रेणियों में जाओ। वहाँ ऊँचा बोलना पाप है। छोटे मिल-मिलकर पढ़ते हैं, बड़े एकान्त चाहते हैं। इस विचित्र क्रम को समझा ? बच्चे का मन समाहित नहीं उसकी वृत्ति बाहर की ओर है। इसका अवरोध उसके शक्ति विकास की मृत्यु हैं। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ी, सोचने का अभ्यास होता गया, अब चित्त का मुख अन्दर को हो गया। इसलिये तो हठ है कि रहने को अकेला कमरा चाहिये। परीक्षा की तैयारी स्कूल के आश्रम में नही हो सकती, बाग को निकल जाते हैं और वहाँ एकाकी बैठकर पुस्तक से लव लगाते हैं, यहाँ तक कि अपना शब्द भी अरोचक-सा हो जाता है।

यही नियम उपासना का है। साधारण जन बालक हैं। उनका मनोविकास नहीं हुआ। वह यदि एकान्त में संध्या करेंगे तो संकल्प-विकल्प से व्याकुल होंगे। यह सन्ध्या-मन्दिर बनाएँ और उच्च स्वर से मन्त्रों का उच्चारण करें। पर यह आदर्श दृष्टिगोचर रहे कि प्रकृति से मन को हटाकर उसे हृदय में जहाँ परमात्मा और आत्मा का समागम है, स्थिर कर सच्चा प्रयागतीर्थ बनाना है।

समाजों ने मन्दिर बनाए तो हैं, पर बहुत कम। एक नगर में एक मन्दिर पर्याप्त नहीं। बृहद् मन्दिर साप्ताहिक अधिवेशनों के काम आ सकता है। नित्य कर्मों के लिये गली-गली में सन्ध्यालय चाहिये।

निर्धन भारतीयों में इतनी शक्ति कहाँ कि अपने-अपने गृहों में सन्ध्यालय का उत्तम प्रबन्ध कर सकें ? न इतनी कर्म परायणता है कि प्रातः सायं वन को निकल जाएँ। जो कर सकते हैं उनके लिये मनाही नहीं। धनी लोग अपने घर में सन्ध्यालय बना लें। साधारण जन मन्दिर ही में सन्ध्या कर लें तो ठीक है।

आर्यसमाजों में हमने सन्ध्या की, और की जाती सुनी और देखी है। उच्चारणों का वैविध्य, क्रिया की भिन्नता और बहुधा अभाव, आसन में असावधानता, शुचि अशुचि से उपेक्षा—ये सब बातें किसी अद्भुतालय का दृश्य दिखाती हैं। मानो इन लोगों का पन्थ एक नहीं। आर्यसमाज की भिन्न शाखाएँ होंगी, एक समाज नहीं—ऐसा प्रतीत होता है।

उक्त भेदों का विस्तार यहाँ तक हुआ है कि यदि संध्या सम्बन्धी पुस्तकों को ही पढ़ा जाय, तो भिन्न सम्प्रदायों की पद्धतियाँ प्रतीत होती हैं। पौराणिक भाई बताते हैं कि उनकी सन्ध्याओं की संख्या १०० से ऊपर है। आर्य भाई इस पर हास्य करते हैं। परन्तु अपनी झोली में भी दृष्टि डाली है ? कहीं हम उसी फूट की तैयारी तो नहीं कर रहे ? प्रायः आर्य भाई सन्ध्या का आरम्भ आचमन मन्त्र 'शन्नोदेवी' इत्यादि से करते है जब कि स्वामी जी की स्पष्ट आज्ञा है कि पहले गायत्री से शिखा-बन्धन करो। आचमन कोई करता ही नहीं, जब कि स्वामी जी का आदेश है कि यह क्रिया तीन स्थानों पर तीन-तीन बार की जाएँ। इत्यादि *।

इन भेदों का प्रतिकार क्या है ? यही सन्ध्या ! जहाँ मिलकर सन्ध्या करने से ठीक रीति का प्रतिपादन और अनुकरण हो सके।

* पञ्च महायज्ञविधि में स्वामी जी ने दो स्थानों पर आचमन की आज्ञा दी है, एक तो प्रथम गायत्री मन्त्र उच्चारण के पीछे, दूसरे अघमर्षण मन्त्रों के पश्चात्। तीसरी बार आचमन करने का विधान दूसरी बार गायत्री पढ़ने से पूर्व है। यह विधान संस्कार विधि ही में है। संस्कारविधि और पञ्चमहायज्ञ विधि के विधान में कुछ मन्त्रों का भेद भी है। संस्कारविधि में मन्त्र अधिक हैं, और क्रम में एक स्थान पर भिन्नता है। हमने इस विषय में पञ्चमहायज्ञविधि को प्रमाण माना है।

साधारण जनता में देखा-देखी का भाव बहुत होता है। जो काम मनुष्य अकेला संकोच सहित करता है, वह मिल कर निस्संकोच तथा निरालस्य किया जाता है। सन्ध्यालय खुलने से सन्ध्या का प्रचार होगा, और प्रायः आर्य कर्तव्य परायण हो जायेंगे। सामाजिक लज्जा से बहुत कुछ इस उद्देश्य की सिद्धि में काम लिया जा सकता है।

सन्ध्या का समय — दिन और रात की सन्धि है, जो लोहे की नहीं, चाँदी की नहीं, किन्तु आकाश की धड़ी पर उषा-रूपी भड़कीले अक्षरों में अंकित देखी जा सकती है।

सन्ध्या का आसन — पलत्थी है और छाती, गर्दन और सिर को एक सीध में रखना। यही आसन शरीर के लिए लाभकारी है। और इसी में ध्यान ठीक लगता है।

शुद्धि का नियम — यह है कि प्रातः तो स्नान कर लें, और सायं मुँह हाथ पाँव धो लें। स्नान कर सकें तो और भी अच्छा। स्थान अत्यन्त उज्ज्वल और रमणीक हो। इस विषय में जितनी सावधानी करो, श्रेष्ठ है। कड़ी सीमा क्या बाँधे ?

एक बात अवश्य ध्यान में रहे — कि सन्ध्या मुख्य है और नियम गौण। यद्यपि सन्ध्या को नियमों से पृथक नहीं कर सकते, परन्तु तो भी किसी विशेष अवस्था में, उदाहरणतया रोग के समय, किसी-किसी नियम का उल्लंघन किया जा सकता है पर उल्लंघन का कारण अनिवार्य हो तब। यथाशक्ति यत्न करना चाहिये कि कोई भी नियम न टूटे।

जैन्टलमैनी सन्ध्या से सन्ध्या न करना अच्छा है। यही न, परमात्मा का ध्यान न करोगे। कोई डर नहीं। पुण्य के बदले पाप न करो।

●

सन्ध्या रहस्य

आगे सन्ध्या के मन्त्र आएँगे । उनकी व्याख्या की जायेगी । तत्सम्बन्धी क्रियाओं का विधान होगा । हमने अपने अनुभव का कुछ अंश पाठकों की भेंट किया है । इससे अधिक भाषा में शक्ति नहीं ।

जैसे हम अपने आपको उपासना-समुद्र के अभी तट ही पर खड़ा समझकर उसकी किसी किसी लहर का आनन्द उठाते हैं, इसी प्रकार प्रिय पाठकों को भी प्रेरणा करते हैं कि इन पृष्ठों को उस समुद्र का बिन्दु-मात्र ही समझें, और अपने अनुभव द्वारा इसे विस्तृत करते हुए वेदामृत में डुबकी लगाएँ । ऋषि वेदमन्त्रों के अर्थ योग द्वारा अवगत करते हैं । यही इस अपूर्व वाणी के पढ़ने और उसको जीवन में ढालने का एकमात्र प्रकार है । हम पूर्णयोगी न सही, परन्तु जितना सम्भव है, हमें मन को एकाग्र कर, ऋषिकृत भाष्य का आश्रय ले, ऋषियों के ही मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये ।

उपासक ऐसा करे तो पूर्ण सफलता प्राप्त करे । सन्ध्याविधि का क्रम निम्न है । इसी क्रम से मंत्रों की व्याख्या और क्रिया का विधान किया गया है ।

(१) गुरुमन्त्र द्वारा शिखा-बन्धन
(२) आचमन
(३) इन्द्रिय-स्पर्श
(४) मार्जन ।
(५) प्राणायाम ।
(६) अघमर्षण के ३ मन्त्र ।
(७) मनसा परिक्रमा के ६ मन्त्र ।
(८) उपस्थान के ४ मन्त्र ।
(९) पुनराचमन ।
(१०) पुनः गुरु मन्त्र ।
(११) नमस्कार ।

इस क्रम में भी एक रहस्य है जो व्याख्या पढ़ने से स्वयं विदित हो जायेगा ।

१–शिखा-बन्धन

यूँ तो वेदों का अक्षर-अक्षर ही पवित्र ज्ञान का स्रोत है, और यह कहना भी नास्तिकता है कि वेद के अमुक स्थल में दूसरे स्थलों की अपेक्षा अधिक ज्ञानामृत है । तथापि समस्त वेद-मन्त्रों की शिखा गुरुमन्त्र को ठहराया है । यह

शिरोमणि मन्त्र वेदों का सार है। द्विज का बाह्य चिन्ह यज्ञोपवीत है, तो अन्तरीय लक्षण गायत्री का ज्ञान है। जन्म के समय जब बालक बोलना नहीं जानता, हम उसे वेद-तिलक ओम् का स्वाद चखा कर मधुमान् बनाते हैं। दूसरा जन्म सावित्री की गोद में गुरु के घर होता है। उसमें प्रथम उपदेश इसी सावितृ-मन्त्रका किया जाता है। इसी से इस मन्त्र का नाम गुरु-मन्त्र है। या यों कहो कि सब मन्त्रों में गुरु अर्थात् प्रथम होने का गौरव रखने वाला यह मन्त्र है।

गायत्री मन्त्र इसको इस लिये कहते हैं कि इसका छन्द गायत्री है, जिसमें २४ अक्षर होते हैं। इस मन्त्र में एक अक्षर न्यून है। उसकी पूर्ति पिंगलसूत्र इत्यादि पूरणः के अनुसार वरेण्यम् में इ बढ़ाने अर्थात् इस शब्द को वरेणियम् पढ़ने से की जाती है।* इसे गायत्री इसलिये भी कहते हैं कि यह मंत्र इसके गाने अर्थात् भजन करने वाले सदाचारी भक्त को भवसागर से तार देता है।

सावितृ-मंत्र भी इसी का नाम है। इस नाम का कारण यह है कि इस मंत्र का देवता सविता है अर्थात् इस मंत्र में प्रेरक परमात्मा की स्तुति है और उसी से प्रार्थना की है।

सन्ध्या से पूर्व मार्जन करो, जिसका अभिप्राय मार्जन-मन्त्र के साथ बतायेंगे। तत्पश्चात् शिखा मंत्र से शिखा को बाँधो, ताकि परमात्मा के सम्यक ध्यान में बालों के बिखरने से मन न बिखरे। तथा शरीर के मुख्य भाग को छूकर धर्म के मुख्य अङ्ग का ध्यान किया जाय। यहाँ प्राणायाम भी कर लेना चाहिए, जिसका प्रयोजन और विधि प्राणायाम-मंत्रों की व्याख्या में बताई है—वहाँ देख लो।

* वैदिक विद्वान् बताते हैं कि गायत्री छन्द में एक मात्रा कम हो तो वह 'निचृत गायत्री' छन्द है। अतः अनेक मूर्धन्य विद्वानों का मत है कि 'वरेण्यम्' ही बोलना चाहिए, 'वरेणियम्' नहीं। सम्पादक।

गुरुमन्त्र

ओ३म् भुर्भवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

—ऋ० मं० २ सू० ६२ म० १० । यजु० ३६-३

अन्वय—भूः । भुवः । स्वः । सवितुः । देवस्य । ओ३म् (परमात्मनः) । तत् । भर्गः धीमहि । यः । नः । धियः । प्रचोदयात् ।

'ओम्'—अव् धातु से रक्षकार्थ है ।

दूसरा अर्थ—इस शब्द में तीन मात्राएँ हैं । अ, उ, म् । श्री स्वामी दयानन्द जी ने (१) 'अ' से विराट् अर्थात् विविध जगत् का प्रकाशक, 'अग्नि' ज्ञान स्वरूप पूजा करने योग्य, 'विश्व' अर्थात् सर्व व्यापक (२) 'उ' से हिरण्य-गर्भ अर्थात् तेजोमय पदार्थों का आधार, 'वायु' अर्थात् बलवान् 'तेजस्' अर्थात् तेजोमय तथा (३) 'म्' से ईश्वर बलवान् 'आदित्य' अखण्ड, 'प्राज्ञ' अर्थात् बुद्धिमान् लिया है । माण्डूक्योपनिषद् में 'अ' से वैश्वानर, 'उ' से तेजस् और 'म्' से प्राज्ञ अर्थ लिया है । सो जितनी दूर किसी ऋषि की दृष्टि पहुँची इस शब्द का उतना महत्व उसके बुद्धिगोचर हुआ । बात यह है कि 'ओ३म्' नाम में परमात्मा के सब नाम आ गये हैं । यह प्रभु का निज नाम है और सार्थक नाम है । प्रकरणानुसार इस शब्द की महिमा आगे दिखाई जायेगी ।

भूः भुवः स्वः ।

यह तीन व्याहृतियाँ कहाती हैं । इन पर ऋषियों ने बहुत ध्यान लगाया है और विविध अर्थ बताएँ हैं । तैत्तिरीय-उपनिषद् में इनके अर्थ आते हैं—

(१) "भूः" प्राण अर्थात् जो श्वास हम अन्दर लेते हैं । "भुवः" अपान अर्थात् जो श्वास बाहर जाता है । "स्वः" व्यान प्राण जो सारे शरीर में है । स्वामी जी प्राण का अभिप्राय जगत्प्राण परमात्मा लेते हैं । अपान से दुःखों का अपनयता (दूरीकर्त्ता) जगदीश, और व्यान से जगद्व्यान (सर्व-व्यापक प्रभु) ।

(२) भूः = ऋग्वेद, भुवः = यजुर्वेद, स्वः = सामवेद और इन तीनों विद्याओं से पूर्ण अथर्ववेद ।

(३) भूः = पृथ्वी, भुवः = अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश, स्वः = द्यौ लोक अर्थात् सूर्यादि ।

मन्त्र का अर्थ— (भूर्भुवःस्वः) जगत्प्राण दुःखों के नाशक सुख-स्वरूप, सर्वव्यापक, (सवितुः) प्रेरक तथा उत्पादक (देवस्य) प्रकाश स्वरूप, (ओ३म्) के (तत्) उस प्रसिद्ध (भर्गः) तेज को हम (भूर्भुवः स्वः) पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोकों में स्थित प्राणी, ऋग् आदि चार वेदों द्वारा प्राणायाम से मन में स्थिर कर (धीमहि) धारण करते हैं अथवा ध्यान में लाते हैं । (यः) जो ओ३म् (नः)

हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) सन्मार्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में प्रेरित करें ।

बच्चे का स्वभाव है कि वह जो कुछ चाहता है, अपने लिये चाहता है। कुटुम्ब तथा समाज का विचार उसके संकुचित मस्तिष्क में नहीं समा सकता। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, गृहस्थ तथा समाज से सम्बन्ध जुड़ता है, त्यों-त्यों मनुष्य स्वार्थगत (आत्म केन्द्रित) जीवन को छोड़ संकोच की ग्रन्थियाँ तोड़ता है, और तब उसके परिश्रम का उद्देश्य स्वार्थ-पूर्ति नहीं, किन्तु स्वसन्तति-पालन तथा जाति का हितचिन्तन हो जाता है, यदि शिक्षा अनुकूल हो तो।

सन्ध्या का अभिप्राय मन को व्यक्तित्व के तङ्ग वृत्त से बाहर निकाल विशाल करना है, जिसका केवलमात्र उपाय सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान है, जो 'भूः भुवः स्वः' शब्दों से किया गया है।

इस पर भी बड़ी बात यह कि प्रार्थना केवल अपने लिए नहीं, किन्तु त्रिलोक निवासी प्राणिमात्र के हितार्थ है। इससे बढ़कर और उदारता क्या हो ?

हमने भूमिका में बताया था कि शक्तिमान् के ध्यान से शक्ति आती है। यहाँ 'धीमहि' शब्द का अर्थ धारण और ध्यान दोनों हैं। तैजस् के तेज को ध्यानगोचर कर स्वयम् तेजोमय बनने का प्रयत्न किया—यही उपासना है। फिर उसका साधन भी बताया है।

परमात्मा 'सविता' है अर्थात् प्रेरक है और उससे विनय की है कि हे प्रभो! हमारे हित और अहित को आप जानते हैं। हमें आप उस मार्ग में डालिए जिससे—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्य्याचन्द्रमसाविव पुनर्ददताध्नता जानता संगमेमहि ।।

—ऋ० मं० ५ सू० ५१ मं० १५ ।।

जीवन के सब अङ्गों में सफलता प्राप्ति हो और हम उदारता और अहिंसा के रास्ते आपके दर्शन करने के योग्य हों। गुरुमन्त्र में मानव जीवन का उद्देश्य रखकर आगे के मंत्रों में उसकी पूर्ति के साधन वर्णन किए हैं।

यहाँ उपासना-विषयक होने से इसी विषय के अर्थ किए हैं। गुरुमंत्र ऐसा मंत्र है जिस विषय में लगाओ, लग जाय।

—०—

२–आचमन-मन्त्र

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः।

—य० अ० ३६। मं० १२ ।।

अन्वयः — ओ३म् देवीः (देव्यः), आपः अभिष्टये पीतये नः शं भवन्तु। शंयोः नः अभिस्त्रवन्तु (स्रावयन्तु)।

(ओ३म्) ईश्वर का निज नाम है। यदि इसकी पूरी व्याख्या की जाय तो इसमें ईश्वर के सभी गुण और विशेषण आ जाते हैं। ऐसे विशाल अर्थ का द्योतक शब्द संसार भर की भाषाओं में कोई और नहीं है।

(देवीः) सब अच्छे (दिव्य) गुणों का भण्डार। गुण दो प्रकार के हैं - (१) दैवी (२) दानवी। जितने अच्छे गुण हैं अर्थात् वह गुण जो धारण करने चाहिए, उन्हें दिव्य कहते हैं। इनके विपरीत जो त्याज्य अवगुण हैं, उन्हें दानवी गुण कहते हैं। ईश्वरको यहाँ देवी अर्थात् सद्गुण-विशिष्ट कहा है। विचार करने पर इस शब्द की विशालता का अनुमान किया जा सकता है।

(आपः) सर्वव्यापक परमात्मा (अभिष्टये) चाही हुई अर्थात् पूर्ण (पीतये) तृप्ति अथवा आनन्द के लिये (नः) हमें (शं) रोग मिटाने वाला अथवा सुख देने वाला (भवन्तु) हो और (शंयोः) सुख और अभय को (नः) हमारे (अभि) सब ओर से (स्त्रवन्तु) चुवाए।

ओं के अतिरिक्त 'देवीः' और 'आपः' ईश्वर के नाम हैं। ये दोनों शब्द व्याकरण में बहुवचन और स्त्रीलिंग के हैं। इनके लिये 'भवन्तु' और 'स्त्रवन्तु' क्रियाएँ भी बहुवचन की आई हैं। शङ्का उठ सकती है कि ईश्वर तो एक है, इसके लिये बहुवचन का प्रयोग क्यों ? इसका उत्तर यह है कि 'आपः' शब्द एक वस्तु का नाम होता हुआ भी व्याकरण में बहुवचन वाची रहता है।

ईश्वर का वास्तविक नाम जैसे ऊपर बताया गया, ओ३म् है, जो व्याकरण में अव्यय है, अर्थात् विभक्तियों, वचनों लिङ्गों के हेर-फेर में नहीं आता। जैसे स्वयं ईश्वर सर्व अवस्थाओं में एकरस रहता है, वैसे ही उसका नाम भी सब दशाओं में एक रूप रहता है। 'आपः' आदि विशेषण-वाची हैं, सो अपने अर्थों के अनुसार किसी वचन व लिंग के हों, इसमें हानि नहीं।

और शङ्का यह की जायगी कि 'देवी' शब्द द्वितीयान्त है, उस के अर्थ प्रथमान्त क्यों लें ? 'आपः' शब्द जिसका यह विशेषण है, प्रथमान्त है। इन दो का मेल कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि वेद-मंत्रों में विभक्ति-व्यत्यय होने से एक विभक्ति के शब्द का अर्थ दूसरी विभक्ति में लिया जा सकता है निम्न सूत्रानुसार—

सुपां सुलुक् पूर्व सवर्णाच्छेथाडाड्या याजालः।
अष्टाध्यायी। अ० ७ पा० १ सूत्र ३९।

'शं' का अर्थ शान्ति है जो आनन्द शब्द से भी अधिक विशाल है। साधारणतः शान्ति तीन प्रकार की मानी गई है। (१) आध्यात्मिक अर्थात्

शारीरिक नैरोग्यपूर्वक आत्मिक आनन्द (२) 'आधिभौतिक' अर्थात् दूसरे प्राणियों के प्रहारों और भौतिक तापों का अभाव। (३) 'आधिदैविक' अर्थात् मन और इन्द्रियों की चंचलता और पूर्व जन्मों में संचित दु:खों के सन्ताप का नाश। प्रत्येक कार्य के अन्त में जो तीन बार शान्ति शब्द का प्रयोग होता है, उसका अभिप्राय इन तीनों तरह के दु:खों का निवारण होता है। इस मन्त्र में शान्ति-स्वरूप से ये तीन वर माँगे गये हैं। यह सन्ध्या की भूमिका है अर्थात् सन्ध्या करते समय प्रथम शरीर स्वच्छ और निरोग होना चाहिये। दूसरे शत्रु का भय न हो, तीसरे मन विचार-रहित हो, दिन भर यही अवस्था रहे तो वह सन्ध्या का वास्तविक स्वरूप और अनुष्ठान होगा।

'स्रवन्तु' शब्द इस मन्त्र में कुछ विचित्र महत्व रखता है। जैसे दही की पोटली बाँध कर लटका दें और उसमें से पानी बूँद-२ होकर टपकता रहे, इसी प्रकार शान्ति (अभि) सब ओर से हमारे अन्दर धीरे-धीरे प्रवेश करे। उसमें वर्षा की भाँति वेग न हो क्योंकि वेग से शान्ति भङ्ग हो जाती है।

जैसा 'आप:' प्रभु सब ओर है वैसे ही उसकी शान्ति भी सब ओर है। जीव उस शान्तिमय परमात्मा में लीन हुआ अभिलाषा करता है कि ईश्वरीय आनन्द उसमें सब ओर से चुवे। यही है असली योग अथवा समाधि।

जब इस मन्त्र को पढ़ो, अपने आपको शान्ति-स्वरूप 'आप:' प्रभु के शान्तिमय राज्य में जानो, और सब प्रकार के भय तथा रोगादि मिटा दो। प्रात: सन्ध्या इस व्रत के लिये प्रतिज्ञा है और सायं सन्ध्या उस प्रतिज्ञा की पड़ताल।

आचमन क्यों करें ?

यह मन्त्र पढ़कर तीन आचमन करने की विधिं है। अर्थात् तीन बार जल लेकर ब्रह्म-तीर्थ (अंजलि के दक्षिण भाग) से मुख में डालना है। जल इतना हो कि कण्ठ से नीचे उतर जाय। प्रश्न उठता है कि आचमन क्यों करें ?

स्वामी जी लिखते हैं :—आलस्य तथा कण्ठस्थ कफ की निवृत्यर्थ।

आचमन की विधि केवल सन्ध्या ही के आदि में नहीं किन्तु प्रत्येक यज्ञ के आरम्भ में है। संध्या में भी तीन स्थानों पर आचमन किया जाता है। इसलिये इस क्रिया का महत्व बताने की विशेष आवश्यकता है।

कफ आदि की निवृत्ति—जो सज्जन सभा समाजों में आते जाते हैं और भजनीकों तथा वक्ताओ के आलाप सुनते रहते हैं, उनको ज्ञात होगा कि जब वक्ता तथा भजनीक बोलता-बोलता थक जाता है, तो वह पानी का एक-आध घूँट पी लेता है। कभी आदि में ही यह क्रिया कर लेता है। इसका कारण क्या है ? यही कि बोलने से गला बैठ जाता है और जल उसको फिर से साफ

करके बोलने योग्य बना देता है। सन्ध्या में भी आचमन का एक प्रयोजन यही है।

आचमन और शांति—जलका बड़ा महत्व यह है कि यह एक अनूठी शान्तिप्रद वस्तु है जिसका अनुभव दो घूँट जलपान करने से हो सकता है। वैद्य कहते हैं, यदि प्रातः उठते ही थोड़ा सा पानी पी लें तो उदर सम्बन्धी कोई रोग न रहने पाए, दूसरे शब्दों में पूर्ण स्वास्थ्य स्थिर रहे, क्योंकि सब व्याधियों का मूल उदर-सम्बन्धी विकार होते हैं। पिछले दिनों एक नई चिकित्सा-विधि का आविष्कार हुआ है, जिसको Hydropathy अर्थात् 'जल-चिकित्सा' कहते हैं। उससे डाक्टर सब रोगों की निवृत्ति जल द्वारा करते हैं। यह तो हुई शरीर-सम्बन्धी अर्थात् आध्यात्मिक शांति। इसी प्रकार आधिभौतिक तथा आधिदैविक शांति भी जल से प्राप्त होती है। उदाहरणतया कोई मनुष्य किसी मानसिक क्लेश के कारण बिलख-बिलख कर रो रहा हो। उसे ठण्डे पानी का एक घूँट पिला दो और उसके मुख पर खूब जल के छींटे मारो, झट शान्त हो जायेगा। यही उपाय क्रोध आदि मानसिक विकारों का है। इन तीन प्रकार की शान्ति के लिए आचमन भी तीन बार किया जाता है। जब पहिला आचमन करो तो समझ लो, कि वह आध्यात्मिक शांति देगा। जब दूसरा करो तो उससे आधिभौतिक शान्ति की इच्छा करो। एवं तीसरा आचमन आधिदैविक शान्ति के लक्ष्य से करो।

ईश्वर-स्मण में जल की साक्षी

कई भाष्यकार आध्यात्मिक शान्ति का अर्थ आत्मा-परमात्मा का संयोग करते हैं। इसमें जल की उपयोगिता एक कथा में दर्शाई गई है। जो काल्पनिक होने पर भी रोचक और शिक्षादायक है। पाठकों के हितार्थ हम उसका उल्लेख यहाँ किए देते हैं।

एक बार आत्मा परमात्मा इकट्ठे थे। परमपिता परमेश्वर की गोद में उसका अमृत पुत्र पितृस्नेह का आनन्द ले रहा था। पिता पुत्र के दर्शन से और पुत्र पिता के लालन से प्रसन्न था। पुत्र के हृदय में चंचला की तरंग उठी। कह उठा, पिताजी छुट्टी दो, जरा आपकी कृति देखें। ब्रह्माण्ड आपका राजक्षेत्र है। मैं राजकुमार होने से उसके अवलोकन का अधिकार तो रखता ही हूँ।

पिता की आँखें आँसुओं में डुबडुबा गईं। बोले, पुत्र ! यहाँ क्या न्यूनता है, जो ब्रह्माण्ड में भ्रमण कर पूरा करोगे। यहाँ तुम्हारा मुख तो देखने को मिलता है। जगत् में गए और राज्य का सुख भोगा, युवती प्रकृति से आँख चार हुई तो वृद्ध पिता का स्मरण काहे को करोगे ?

पुत्र ने पिता का यह रङ्ग पहले कभी न देखा था। चकित हुआ और कहा—पिताजी ! आप घट-घट में वास करते हैं आप से दूर कोई क्यों कर होने लगा ? प्रकृति का प्रत्येक दृश्य आपकी द्युति का द्योतक है। ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के दर्शन हैं। अणु-अणु का देखना आपका देखना है।

यह शब्द सुनते ही पिता के होठों पर मुस्कान दौड़ गई। और बोले, है तो सच, परन्तु बिगड़े बच्चों की विमुखता का यह भी तो पूरा प्रतिकार नहीं। जब कोई नटखट जीव एक बार निगोड़ा बन खड़ा होता है तो मेरा घट-घट का वास भी तो उसे पास नहीं बुला सकता। आँख की पुतली में खड़ा आँखों की राह तकता हूँ। खुले नेत्र मेरा ध्यान करें ही क्यों ? उनके लिये बाहर देखने को क्या कम है ? और जो कभी बन्द भी हो जाएँ तो सारा संसार व्यवहार भूत बनकर आँखों के अन्दर नाचने लगता है, और मैं दृष्टि के बाहर चला जाता हूँ।

पुत्र—पिताजी किसी प्रकार आप विश्वास कर भी सकते हैं ?

पिता—हाँ ! यदि कोई विश्वस्त साक्षी लाओ, जो मेरे स्मरण कराने का भार अपने ऊपर ले।

पुत्र सूर्य को लाया। अग्नि को, वायु को, संसार की सब देव-शक्तियों को लाया, परन्तु पिता को विश्वास न हुआ, न हुआ।

अन्त में जल साक्षी बन कर आया। जल ने अपनी ही अंजलि लेकर शपथ की, कि और समय का तो मेरा जिम्मा नहीं। हाँ, जब कोई जीव मुझे छू लेगा, तब तो अवश्य उसे ईश्वर नाम का उच्चारण करा दूँगा, और प्रभु-परायण वृत्ति उसके मन में जगा दूँगा।

परमात्मा को यह शपथ स्वीकार हुई। कहा, जल की अंजलि का निरादर संसार में नहीं, हम भी इसे अपमानित नहीं करते। तब से और समय में परमात्मा याद हो न हों, परन्तु जल का एक छींटा शरीर पर पड़ा नहीं और प्रभु का नाम जिह्वा पर आया नहीं। एक घूँट जल पिया नहीं और आस्तिक बुद्धि अन्तःकरण में प्रबुद्ध हुई नहीं।

इस मन्त्र के भौतिक अर्थ

'आपः' शब्द का अर्थ जल भी है। अतः मन्त्र का दूसरा अर्थ यह है कि 'आपः' जल 'देवीः' अर्थात् अति गुणकर है। तृप्ति होती है, और त्रिविध शांति मिलती है। यह सब ओर इससे चू रहा है। अर्थात् सर्वत्र (वाष्परूप) में विद्यमान है।

प्रार्थना के रूप में मानो जल-सम्बन्धी सारा विज्ञान इस मन्त्र में भर दिया गया है। जल-चिकित्सा आदि विद्यायें इस मन्त्र का एक अंश-मात्र है।

अथर्ववेद प्रथम काण्ड में सूक्त ४,५,६ जल के गुणों के बोधक हैं। यह मन्त्र भी वहीं आता है। निम्न मन्त्र जल-चिकित्सा के विषय को और भी स्पष्ट करते हैं—

अपस्व १ न्तरमृतमप्सु भेषजम्। अ. का. सू.४

अप्सु मे सोमोऽब्रवोदन्त विश्वानि भेषजा।

अ०का०सू०६म०२॥

द्रष्टव्य – सन्ध्या करते समय इस मन्त्र के वही पहले अर्थ लो, क्योंकि सन्ध्या तो उपासना है, और उपासना सर्वव्यापक प्रभु की होती है, जल की नहीं।

३–इन्द्रिय स्पर्श

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः। ओं बाहुभ्याम् यशोबलं। ओं करतलकरपृष्ठे।

(ओ३म्) हे परमात्मन्! हममें (वाक् २) बोलने की शक्ति हो।

(ओ३म्) हे प्राणनाथ! हममें (प्राणः २) प्राण शक्ति हो।

(ओ३म्) हे सर्वद्रष्टः! (सब को देखने वाले) हमारी (चक्षुः२) आँखें हों तथा उनमें देखने की पूर्ण शक्ति हो।

(ओ३म्) हे सर्व-श्रोतः! (सबको सुनने वाले) हमारे (श्रोत्र २) कान हों तथा सुनने को शक्ति हो।

(ओ३म्) हे जगज्जनक! हमारी (नाभिः) नाभि हो।

(ओ३म्) हे हृदयेश्वर! हमारा (हृदयं) हृदय हो।

(ओ३म्) हे सुख स्वरूप! हमारी (कण्ठः) गर्दन हो।

(ओ३म्) हे पूज्य-शिरोमणि! हमारा (शिरः) शिर हो।

(ओ३म्) हे सम्पूर्ण बल-दातः! (बाहुभ्याम्) हमारे बाजुओं के लिए (यशोबलं) यश और बल हो।

(ओ३म्) हे सर्वशक्तिमान्! हमारी (करतल करपृष्ठे) हाथ की हथेली और हाथ की पीठ हो।

उक्त अर्थ में हमने प्रत्येक वाक्य में 'हो' शब्द अपनी ओर से लगा दिया है, प्रश्न किया जायेगा, जब मन्त्रों में इसके लिए शब्द नहीं, तो इसकी कल्पना क्यों करें? उसका उत्तर यह है कि संस्कृत में अस् धातु की क्रियाएँ प्रायः लुप्त हो जाती है, यहाँ 'अस्तु' क्रिया प्रत्येक वाक्य में लुप्त है।

हवन से पूर्व भी इन्द्रिय स्पर्श क्रिया की जाती है। वहाँ ये वाक्य हैं—

ओं वाङ्म आस्येऽस्तु, ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु। इत्यादि।

इनका अर्थ यह है कि मेरे मुख में बोलने की शक्ति हो, मेरी नासिकाओं में प्राण हों । इत्यादि ।

यही अर्थ सन्ध्या में लगाने चाहिए । अब शङ्का यह रही कि यह इन्द्रियाँ क्या हों ? इन्द्रिय-स्पर्श जहाँ किया जाता है, वहाँ बल की प्रार्थना होती है । यह ऋषियों का मत है । यह ऋषियों का मत है । सो इस मंत्र में भी बल की याचना की गई है ।

वैदिक धर्म का यह बड़ा महत्व है कि यह दूसरे मतों की न्याईं शरीर का निरादर नहीं सिखाता, किन्तु आत्मिक उन्नति की पहली सीढ़ी शारीरिक नैरोग्य को ठहराता है । आचमन मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने शान्ति के तीन प्रकार बताये थे, जिनमें प्रथम आध्यात्मिक शान्ति अर्थात् शारीरिक नैरोग्य है । यह ऋषि-वाक्य उनका अनुमोदन कर रहे हैं । योग-शास्त्र के कर्त्ता महामुनि पतंजलि ने योग में पहिला विघ्न-व्याधि अर्थात् बीमारी को ठहराया है ।

आजकल के विद्वानों का सिद्धान्त भी यही है कि उन्नत आत्मा केवल स्वस्थ शरीर में ठहर सकता है । तथा आँगल भाषा में लोकोक्ति है–''साउण्ड माइन्ड इन ए साउन्ड बॉडी' इसका अभिप्राय भी यही है ।

सन्ध्या का महत्व वर्णन करते हुए हमने बताया था कि सन्ध्या में जितनी प्रार्थनायें की जाती हैं, वह मानों उनकी पूर्ति की प्रतिज्ञाएँ होती हैं । यह शारीरिक बल तथा यश की प्रार्थना भी उन सब साधनों के प्रयुक्त करने का प्रण है जिनसे बल और यश प्राप्त होता है । यदि यहाँ उन साधनों का संक्षेपतः वर्णन कर दिया जाय तो अनुचित न होगा ।

इन वाक्यों में मानुषी देह में मुख्य-मुख्य अंगों के नाम आ गये हैं । इनके साथ समस्त देह को सम्मिलित समझना चाहिए । यदि इन्हीं को बलिष्ठ करने में पूर्ण ध्यान दिया जाए, तो सारा शरीर हृष्ट-पुष्ट रहेगा ।

सबसे पहले वागिन्द्रिय का नाम लिखा है । मानस विद्या, वेत्ताओं का सिद्धान्त है कि मानसिक उन्नति अर्थात् विचार शक्ति का विकास वागिन्द्रिय के विकास के साथ-साथ होता है । जो बालक गूँगे रहते हैं उनकी मानसिक बृद्धि रुक जाती है । हम कैसा ही मौन धारण करके सोचें, हमारी जिह्वा परोक्ष रूप में काम करती ही रहेगी । हमें एक विद्यार्थी का वृतान्त स्मरण है जिसकी जिह्वा बोलते समय अटकती थी । परीक्षा-मन्दिर में प्रश्नों का उत्तर लिखते हुए उसकी लेखनी भी शीघ्र नहीं चल सकती थी, क्योंकि लिखते समय जिह्वा और लेखनी दोनों एक साथ काम करती हैं । अतः मनुष्य मनन-शील पशु है और मनन क्रिया का निर्भर वागिन्द्रिय के विकास पर है, अतः इस इन्द्रिय की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है ।

वागिन्द्रिय की बलिष्ठता इसमें है कि जितने प्रकार के शब्द मनुष्य के मुख से निकल सकते हैं, वह सब शुद्ध उच्चारणके साथ जीभ पर लाए जा सकें। कई बालक श्रेणी में अथवा किसी और जगह बलपूर्वक नहीं बोल सकते, तो अध्यापक उन्हें शिक्षा देता है कि एकान्त में संध्या पढ़ने का अभ्यास किया करो।

यह शिक्षा यथार्थ है। यदि ऐसा अभ्यास संस्कृत में किया जाए, तो और भाषाओं की अपेक्षा अधिक लाभ हो, क्योंकि संस्कृत की वर्णमाला में सभी आवाजें, जो मनुष्यों के मुख से निकल सकती हैं, एक अनूठे क्रम के साथ सम्मिलित हैं। दूसरी भाषाओं में यह बात नहीं। फारसी में ''ड'' और ''ट'' नहीं, तो अंग्रेजी आदि में ''क्ष'' तथा ''ज्ञ'' नहीं।''

संस्कृत का कोई अन्य विषय क्या लोगे ? इसी सन्ध्या का ऊँचे स्वर से शुद्ध उच्चारण करने से अभीष्ट से अधिक लाभ होगा। योगियों में इससे भी सुगम अभ्यास प्रचलित है। वह प्राणायाम के साथ साथ ''ओं'' शब्द का उच्चारण करते हैं। ओं शब्द का महत्व यह है कि यह सब मानुषी स्वरों पर व्याप्त है। जैसे परमात्मा सर्वव्यापक होने से सारी सृष्टि पर छाया हुआ है, इसी प्रकार उसका नाम 'ओं' भी गले के नीचे से निकल कर मुख के सारे वाक् स्थानों अर्थात् कण्ठ, तालु, होंठ इत्यादि का भ्रमण करता हुआ होठों पर समाप्त हो जाता है, जिसके उच्चारण करते ही मुख बन्द हो जाता है कि बस! आगे वाणी नहीं जा सकती।

॥ दोहा ॥

तुलसी 'रा' अस कहत ही, निकसत पाप पहाड़।
फिर आवन पावत नहीं ; देत 'म'-कार, किवाड़॥

यदि 'रा' की जगह हम 'ओ' रख दें तो यही दोहा ओ३म् पर लग जाता है। ''राम'' में 'म' सस्वर है। उसके उच्चारण में होंठ खुल जाने चाहिए। ओ३म् में ''म्'' व्यञ्जन है, अतः दोहा घटता ही 'ओ३म्' पर है। ओं के उच्चारण में सभी आवाजें आ जाती हैं। किन्तु बात यह है कि 'ओं' बोलते हुए सब वाक् स्थानों की हरकत में लाया जाए। स्यात् सब लोग ऐसा न कर सकें फिर भी सन्ध्या का उच्चारण लाभकारी होगा।

यह हुआ ओं वाक् वाक्। यदि हम इसी प्रकार शेष वाक्यों पर बल देते गए, तो सारी पुस्तक इन्हीं पर समाप्त हो जाएगी। आगे हम अतीव संक्षेप से काम लेकर पाठकों से विनय करेंगे कि दूसरी इन्द्रियों का महत्व स्वयं विचारें और उन्हें शक्तिमती बनाने के उपाय प्रयुक्त करें, ताकि शारीरिक बल की प्रार्थना सार्थक हो।

प्राणों का सविस्तार वर्णन प्राणायाम-मन्त्रों की व्याख्या में आ जाएगा। यहाँ इतना जान लो कि जीवन का निर्भर प्राणों की यथार्थ गति पर है, और इस गति का उपाय प्राणायाम है।

चक्षुओं की रक्षा के लिए इन पर प्रातः ठण्डे जल के छींटे मारा करो। थोड़े प्रकाश में न पढ़ो। सोकर न पढ़ो। अधिक प्रकाश में न ठहरो। मिर्च आदि न खाओ। हरियावल पर दृष्टि रखा करो। इत्यादि इत्यादि।

कानों के लिए सावधानी यह रखो कि उन्हें तिनके आदि से छेड़ो नहीं। शेष रक्षा कान अपनी आप करते हैं।

नाभि का नाम इन ऋषि वाक्यों में आने पर कई लोग शङ्का करते हैं, कि वाक् प्राण, चक्षु आदि तो मान लिया काम के अङ्ग हैं, परन्तु नाभि जो शरीर के मध्य भाग में एक गाँठ मात्र है, उसका बल बढ़ाना क्या ? ऐसे महाशयों को किसी नवजात बालक का विचार करना चाहिए। उसकी नाभि के साथ एक नाड़ी लगी होती है, जिसे जातकर्म संस्कार में काट लेते हैं। गर्भ में माता के शरीर के साथ बच्चे का सम्बन्ध इसी नाड़ी द्वारा होता है। इसी से उसके अन्दर आहार आदि जाता है। नाभि के अन्दर एक ऐसा यन्त्र है, जो उस आहार को बच्चे के शरीर का अंश बनाता है। जन्म होने पर हमने बाह्य नाड़ी को काट दिया, परन्तु नाभि के अन्दर का यन्त्र नष्ट नहीं हुआ। अब हम अपना आहार मुख के रास्ते अन्दर ले जाते हैं, सो बाह्य नाड़ी की आवश्यकता नहीं। किन्तु हमें वैद्य बताते हैं कि इस आहार का पाचन नाभिस्थ प्राण (उदान) से प्रदीप्त जठराग्नि द्वारा होता है। योगियों की योगसिद्धि मूल-स्थान से नाभि तक जल चढ़ा कर नाभि चक्र के साफ करने से होती है। गवैयों का प्रथम अर्थात् सबसे नीचा स्वर नाभि से उठता है। यह है महत्व नाभि का।

अब इसे पुष्टि क्यों कर दें ? प्राणायाम से। नाभि से अभिप्राय नाभि के आसपास का प्रदेश अर्थात् उदर, कलेजा, तिल्ली, गुर्दा इत्यादि भी हो सकता है। इन सब अङ्गों को शक्तियुक्त करने के लिये व्यायाम करो। प्राणायाम से भी उन्हें बहुत लाभ होता है।

हृदय रुधिर का केन्द्र है। इसकी धड़कन ठीक हो तो स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता। व्यायाम और प्राणायाम इसमें अपूर्व साधन हैं। कण्ठ प्राणों का मार्ग है, आहार की नाली है, नासिकाएँ और मुख यहाँ मिलते हैं। गला जोर से दब जाए, तो मृत्यु हो जाती है। प्राणायाम और आचमन करने से इसकी अवस्था भी ठीक रह सकती है। शिर प्रधान अङ्ग है, इसमें वीर्य रहता है, जो सारे शरीर का सार है। विचार, स्मृति आदि शक्तियाँ भी शिर ही में स्थित हैं। शिर की पुष्टि विशेषतया ब्रह्मचर्य से होती है। बाहुओं टाँगों के लिये डण्ड

आदि व्यायाम का अभ्यास करो । इसीसे हाथ भी पुष्ट होंगे । नवयुवकों में बान पड़ रही है कि वे छोटे से छोटा भार भी उठाने से लजाते हैं । यह मानुषी शक्ति का अपमान है । इससे हाथ श्वेत तो रहेंगे और मोम के हाथों की तरह देखने में सुन्दर प्रतीत होंगे, परन्तु वास्तविक काम करने योग्य हाथ नष्ट हो जाएँगे ।

जितने अङ्गों का नाम ऊपर लिया गया, सब आपस में सङ्गठित हैं । एक का विकास दूसरे का भी विकास है । इसलिये एक से ही साधन सब अङ्गों को लाभकारी है । सामान्यतः शरीर की पुष्टि के लिए सात्विक भोजन, व्यायाम और ब्रह्मचर्य-साधन है । औषधियाँ और पाचक-पाक इत्यादि नहीं ।

इन्द्रिय-स्पर्श विधि

इन वाक्यों का नाम इन्द्रिय-स्पर्श मन्त्र है, अर्थात् इनके उच्चारण के साथ-साथ अङ्गों को छूना होता है । यह क्यों ? इसलिए कि मन की प्रवृत्ति इन अङ्गों की ओर हो । विद्यालयों में शिक्षा की उत्तम विधि यही समझी जाती है कि जो शब्द मुख से कहें, उनकी क्रिया हाथ से करें । सम्भव है, इस क्रिया के बिना भी मन इन अङ्गों के विचार कर सके, परन्तु सदा ऐसा होना आवश्यक नहीं, अतः क्रिया करनी ही श्रेष्ठ है । व्यायाम और आहार करते समय इन वाक्यों का अर्थ विचारें तो बहुत लाभ होगा । ऐसा करने से मुखादि इन्द्रियों की क्रियाओं में मन की क्रिया भी सम्मिलित हो जायगी और क्रिया का फल कई गुना अधिक होगा । बड़े योग्य पहलवानों की सम्मति है कि व्यायाम करते समय जिस अङ्ग को बलिष्ठ करना हो, उसका विशेष ध्यान रखकर उसे बार-बार छूना चाहिए, इससे व्यायाम पूर्णतया सफल होगा । इन मन्त्रों में इन्द्रिय-स्पर्श का यही अभिप्राय होगा ।

एक बार एक शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी ने इन्द्रियस्पर्श क्रिया पर ठट्ठा किया था, कि यह तो एक ऐसे अबोध बालक का-सा खेल है, जो अपने अङ्गों का नाम अभी अपनी माता से सीख रहा है । माता कहती है 'वाक्' वह मुख पर हाथ रखता है और कहा है 'वाक्' । ऐसे ही चक्षुः चक्षुः इत्यादि ।

आर्य पण्डित ने जो इसका उत्तर दिया सो तो यथोचित ही था । वह ऊपर की व्याख्या में आ चुका है । परन्तु लेखक के मन में रह रहकर स्फूर्ति होती है कि हमें बच्चों की सी चेष्टा से भी लज्जा क्यों हो ? वेद कहता है कि—

ओ३म् स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ।

अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करना है तो बालक की सी वृत्ति धारण करो ।

जैसे थका हुआ रुष्ट पिता भी जो क्रोध के समय किसी दूसरे प्राणी का मुख नहीं देख सकता, जब अपने जिगर के टुकड़े, आँखों के प्रकाश, तुतलाते बच्चे के पसारे हुए बाहु देख पाता है तो उसकी भुजाएँ बढ़ने से रुक नहीं सकतीं। म्लान मुख खिल उठता है, मानों दिन भर की थकान एक अनजान बच्चे के मुस्कराते मुखड़े ने दूर कर दी। ऐसे ही परम पिता परमात्मा, जिन्हें योगी योग की कठिनाइयाँ झेल कर पाते हैं, जो सीधे इन्द्रियों से देखे नहीं जाते, हाथ फैलाये गले लगाने को दौड़ते हैं, जब उनका कोई अमृत-पुत्र मुग्ध बालक की तरह निष्कपट प्रेमरत हुआ तन्मय हो जाता है।

सन्ध्या में उपासक की वृत्ति वही तो होती है, जो एक सीधे सरल बच्चे की।

प्रश्न किया जा सकता है कि इस अवस्था में भी इन्द्रियों को छूना और उनका नाम लेना किस अभिप्राय से है ?

इसका अभिप्राय वही है जो माता अथवा पिता को गोदी में तुतलाते बच्चे का होता है, जब वह अङ्गों को छूता और उनका नाम लेता है।

हमें परमात्म-देव सिखा चुके हैं कि यह वाक् है, यह प्राण है इत्यादि। परन्तु हममें से कितने हैं जिन्हें यह पाठ याद है। वह वाक्, वाक् नहीं जो शब्दों का उच्चारण स्पष्ट, सस्वर, तथा तीक्ष्ण करना हो तो तीक्ष्ण, मृदुता की अपेक्षा हो तो मृदु, गम्भीरता अभीष्ट हो तो गम्भीर, नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त सत्य, मित, पिशुनता रहित-समयोचित भाषण ही तो वाणी का सार है।

चक्षुः वही चक्षुः है जो एक ओर तो अर्जुन की भाँति वृक्ष की उच्चतम चोटी पर बैठी चिड़िया की आँख में भी पुतली को देखले और उसमें इतना समाहित हो कि अन्य कुछ न देखे, दूसरी ओर जो देखे वह भद्र हो अर्थात् दूरदर्शी भी हों और भद्रदर्शी भी, तब सार्थक नेत्र हैं।

ऐसे ही कान, जिनके भाग में ध्वनि के ज्ञान के साथ दिशा का ज्ञान आता है। वह भी ऐसे हों जैसे दशरथ महाराज तथा पृथिवीराज चौहान के विषय में वर्णन है कि शब्द सुनकर आँखों से छिपे लक्ष्य को बाण से बेध देते थे।

और इसी प्रकार दूसरी सारी इन्द्रियाँ जहाँ अपने विषय के ग्रहण में प्रबल हों, वहाँ अभद्र का ग्रहण न करें।

जब तक इस विषय में लेशमात्र त्रुटि है, पिता की गोदी में आँखों और कानों तथा नासिकाओं एवं अन्य इन्द्रियों को हाथ लगा लगा कर चेतावनी लेने की आवश्यकता है कि यह श्रोत्र हैं, यह नेत्र हैं, यह प्राणों का मार्ग है, इत्यादि।

४—मार्जन-मन्त्र

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये । ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयोः । ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि । ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ।

(ओं भूः) जगत् का जीवन अथवा प्राण-प्रिय ओम् (पुनातु) पवित्रता करे शिरसि) शिर में ।

(ओं भुवः) प्रकृति का उदान अर्थात् उसमें रहकर उस से पृथक् अथवा दुःखनाशक ओम् (पुनातु) पवित्रता करे (नेत्रयोः) आँखों में ।

(ओं स्वः) जगत् का व्यान अर्थात् सर्व-व्यापी ओम् (पुनातु) पवित्रता करे (कण्ठे) गर्दन में ।

(ओं महः) सबसे महान ओम् (पुनातु) पवित्रता करे (नाभ्याम्) नाभि में।

(ओं तपः) तप अर्थात् ज्ञान वा धर्म स्वरूप अथवा दुष्टों को दण्ड देने वाला ओं (पुनातु) पवित्रता करे (पादयोः) पैरों में ।

(ओं सत्यम्) नित्य, अविनाशी ओम् (पुनातु) पवित्रता करे (पुनः) फिर (शिरसि) शिर में ।

'ओ३म्' से उतर कर 'भूः' 'भुवः' और 'स्वः' ये तीन ईश्वर के नाम बहुत महत्व के कहे गये हैं । विविध टीकाकारों ने इनके विविध अर्थ किए हैं, परन्तु यहाँ वही अर्थ पर्याप्त हैं जो ऊपर दिए गए हैं ।

उक्त आठ मन्त्रों में भूः भुवः इत्यादि नाम लेकर शरीर के क्रमशः सब प्रदेशों की शुद्धि की प्रार्थना की गई है । अब यह तो प्रार्थना का ठट्ठा ही उड़ाना होगा, कि मैला मुँह लेकर हम ईश्वर के आगे बैठ जाएँ, और इन मन्त्रों के उच्चारण से यह आशा करें कि आकाश से जल बरसेगा, और हमारे मुख का मैल बहा ले जाएगा । पहिले भी यह बात जताई थी और अब फिर उसी पर बल देते हैं कि "प्रार्थना प्रतिज्ञा" है । पवित्रता माँगने का प्रयोजन यह है कि हम पवित्रता ग्रहण करेंगे ।

फिर पवित्रता होती है दो प्रकार की । एक बाह्य अर्थात् बाहर की दूसरी आभ्यन्तर अर्थात् अन्दर की । बाहिर की शुद्धि जलादि से होती है और अन्त की सत्य से । मनु जी कहते हैं कि :—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति,
मनः सत्येन शुद्ध्यति ।।

मार्जन-मन्त्रों में पहले शिर प्रदेश की शुद्धि आई है । इस प्रदेश में शिर का बालों वाला भाग, माथा नेत्र तथा श्रोत्र आदि सब आ जाते हैं । आजकल

बाल संवारने का फैशन हो रहा है, और कङ्घा किए हुए, माथे पर के चमकीले बाल सभ्यता के चिन्ह समझे जाते हैं। अतः बालक और युवक बाहिर जाते हुए इन बालों को तेल लगाकर भड़कीला बना लेते हैं परन्तु शिर के नित्यप्रति धोने पर ध्यान नहीं देते, विशेषतया शीत के दिनों में। यह बड़ी भूल है। वास्तविक सुन्दरता बनाव श्रृङ्गार में नहीं, किन्तु शुद्धता में है। यदि शिर के बाल बहुत छोटे करा दिये जाएँ तो उनमें मैल रह ही न सके। कुछ हो, शिर को प्रतिदिन जल से अच्छी तरह धोना चाहिये, और उसमें न तो मिट्टी ही रहने देनी चाहिये न जूएँ और कीट।

नेत्रों को इस प्रदेश से भिन्न भी ले लिया है। यह इसलिये कि शिर-प्रदेश के श्रोत्रादि अन्य अङ्ग इतना विशेष ध्यान नहीं चाहते जितना नेत्र।

तत्पश्चात् ग्रीवा आती है। उसमें मुख भी सम्मिलित कर लो, क्योंकि इन दोनों की नाली एक है। इस भाग की शुद्धि के लिये प्रथम तो दांतुन रोज करना चाहिये, जिससे दाँतों और जिह्वा की मैल उतर जाए। दूसरे आचमन द्वारा कण्ठस्थ कफ की निवृत्ति करते रहो। कण्ठ का बाह्य भाग भी नहाते समय जल से धो लो। कई लोग कानों के पिछले भाग की परवाह नहीं करते, वह असावधानी हानिकर है। सम्पूर्ण ग्रीवा को अन्दर बाहिर से धोओ।

अब आया हृदय-प्रदेश, अर्थात् छाती और उसके अन्दर के अंग। बाहिर तो पानी का प्रयोग करो, और अन्दर के लिये प्राणायाम उपयोगी है, जिसका वर्णन आगे आएगा।

नाभि का महत्व इन्द्रिय-स्पर्श प्रकरण में बताया गया था। इस भाग में उदर, तिल्ली, गुर्दा इत्यादि अंग आ जाते हैं। प्राणायाम इन सबको लाभदायक है। उदर के लिये प्रातःकाल दो घूँट पानी पीना गुणकारी होगा। गुर्दे और मसाने पर पानी बहाओ। यह स्मरण रहे कि मद्य मांस, सिग्रेट, लैमोनेड तथा बर्फ आदि इस प्रदेश के लिए विष हैं। अतः इन वस्तुओं का सर्वथा त्याग किए रक्खो।

"पादयोः" में गुप्त इन्द्रियों और टांगों का भी समावेश है। इस भाग को शूद्र समझ कर इससे असावधान मत हो। शेष शरीर के साथ इस अंग को मल कर धोना आवश्यक है। गुप्त इन्द्रियों के विषय में यह कहने से नहीं रह सकते कि ये जितनी गुप्त हैं, उतनी अधिक शुद्धता चाहती हैं।

दुर्भाग्य से हमारी जाति आज नियम-भ्रष्ट हो चली है, नहीं तो हमारे शुद्धता-सम्बन्धी नियम ऐसे हैं, जिन्हें देखकर संसार चकित है। संक्षेप से हम इस विषय में यह शिक्षा देंगे कि :—

शौच के समय गुदा को दो चार बार मिट्टी लगाकर धोवो, मूत्रेन्द्रिय को

एक बार । फिर बाएँ हाथ को, जिससे इन्द्रियाँ साफ की हों, बार-बार मिट्टी लगाओ । और फिर दोनों हाथों को मिट्टी लगाकर खुब धोवो । मिट्टी इसलिये लगाते हैं कि इससे दुर्गन्ध का नाश होता है । परन्तु मिट्टी अति शुद्ध होनी चाहिये । साबुन से भी यह क्रिया की जाती है, परन्तु उससे कुछ लाभ नहीं । लघुशंका करने पर भी मूत्रेन्द्रिय को धो लेना चाहिये । क्या हमें यह बताने की आवश्यकता है कि हम इस विषय में कितने गिर गए हैं ? हमें इस ओर ध्यान देते भी लज्जा आती है । अभियोग के भय से हम यह न कहेंगे कि कोई विष्ठा आहार में मिलाता है, किन्तु साधारण जनता के खाने वाले हाथ प्रायः विष्ठायुक्त तो होते ही हैं ।

इस प्रकार शरीर के सारे भागों को पृथक्-पृथक् लेकर फिर शिर का नाम आया । यह मानो नहाने की विधि बताई कि अङ्गों को उक्त क्रम से धोकर फिर सिर पर पानी डालो और सर्वत्र यही क्रिया करो ।

यही थी बाह्य शुद्धि । आभ्यन्तर-शुद्धि मन की है । क्योंकि मन की समस्त क्रियाएँ इन्द्रियों द्वारा होती हैं, इसलिए एक-एक इन्द्रिय का नाम लेकर उसके निग्रह की प्रार्थना की गई । सिर में सुविचार-धारण, नेत्रों से शुभ-दृष्टि-पातन, ग्रीवा से शुद्ध मधुर वाक्य-निष्कासन, हृदय में राग-द्वेष रहित विशाल प्रेम-संस्थापन जिनमें कामक्रोध का लेश भी न हो, नाभि से सात्विक पदार्थों का पाचन, पाँवों से सन्मार्ग-सेवन, यह अन्दर की शुद्धि है ।

मार्जन का अभिप्राय

उक्त आठ मन्त्रों को कहते हुए मार्जन करना होता है, अर्थात् जिस अङ्ग का नाम लिया उस पर थोड़ा-सा जल छिड़क दिया । ऐसा क्यों ? इस विधि में दो अभिप्राय हैं । एक तो आलस्य का त्याग । इस पर उदाहरण लीजिये । जब बालक प्रातःकाल होने पर भी नींद से सचेत न हो, तो चतुर माता उस के मुख पर पानी के छींटे देती है । तब वह तत्क्षण उठ बैठता है । इसी प्रकार यदि विद्यार्थी परीक्षा के समय नियत समय से अधिक पढ़ना चाहे, परन्तु नींद इसमें बाधिका हो तो वह मुँह धो लेता है । इसी प्रकार सन्ध्या में भी आलस्य होने लगे तो मार्जन करलो ।

दूसरा प्रयोजन इस क्रिया का यह है कि मन्त्रों में पवित्रता की प्रार्थना है और पवित्रता होती है पानी से । क्रिया-युक्त होकर हमारा प्रण दृढ़ हो जाता है, और हमें स्मरण रहता है कि जिन अङ्गों को मार्जन-मन्त्रों से पानी लगाया था, उन्हें स्नान में पूर्णतया धोना चाहिए । यदि हमें सन्ध्या का अभ्यास होता और उसमें आई हुई मार्जन-क्रिया का अभिप्राय याद रखते, तो हमारे व्यवहार शुद्धता-शून्य न होते, हम नहाने में दिखावा न करते और उस शौच का पूरा

अनुष्ठान करते जिसे मनु ने धर्म का विशेष अंग बताया है। यदि नहाते समय इन मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान देकर एक-एक अंग धोएँ तो विशेष लाभ हो।

५–प्राणायाम–मन्त्र

ओ३म् भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्॥

इन मंत्रों का अर्थ मार्जन-मन्त्रों में दिया जा चुका है। हम यहाँ केवल उस क्रिया का विधान करेंगे, जो इन मन्त्रों के साथ प्रयोग में आती है। इस क्रिया को ''प्राणायाम'' कहते हैं।

प्राणायाम का अर्थ है प्राणों को रोकना। इसकी विधि स्वामी जी इस प्रकार लिखते हैं कि पहले श्वास को बल-पूर्वक दोनो नथनों से निकाल दो, और जितना समय सुगमता से हो सके, उसे बाहर रोके रखो। फिर धीरे-धीरे अन्दर खींचो और वहाँ भी जितनी देर हो सके ठहराओ। यह एक प्राणायाम हुआ। न्यून से न्यून ऐसे तीन प्राणायाम करने चाहिए।

पञ्चमहायज्ञविधि में लिखा है, कि सन्ध्या के आदि ही में आचमन-मन्त्र (शन्नोदेवी०) पढ़ने से पूर्व मार्जन करके प्राणायाम करो। फिर इन प्राणायाम-मन्त्रों के साथ भी करो। और जब अघमर्षण होकर फिर आचमन हो चुके, तो फिर प्राणायाम कर लो। इत्यादि।

प्राणायाम हमारी उपासना का एक महान् अंग है। अतः इसके लाभ पर दृष्टि डालना विशेष उपयोगी होगा।

सन्ध्या से पूर्व जो प्राणायाम किया जाता है, उसके वे लाभ भी हैं जिनका वर्णन नीचे आएगा। विशेष लाभ यह है कि इससे सन्ध्या का आसन जम जाता है। और शरीर आलस्य त्याग कर सचेत हो जाता है। सामान्यावस्था में भी जब लिखते-लिखते अथवा पढ़ते-पढ़ते थक जाओ, और कमर दुखने लगे तो प्राणायाम कर लो, कमर सीधी हो जाएगी। सन्ध्या में तो विशेषतः और शेष कार्यों में सामान्यतः यह अत्युत्तम है कि शिर, गर्दन और छाती एक सीध में हों। प्राणायाम करने से अनायास आसन जम जाता है। अतः दिन में जितनी बार यह क्रिया करोगे, उतना ही अपने शरीर को टेढ़ा होने से बचाओगे और बुढ़ापा दूर रहेगा।

प्राणायाम रोग मिटाता है—आचमन-मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने एक प्रकार की वैद्यक का नाम लिया था, और बताया था कि कई डाक्टर केवल जल के प्रयोग से रोगों की चिकित्सा करते हैं। ऐसी ही एक और विधि आक्सीपेथी अर्थात् वायु द्वारा रोग-विनाश की है। जल की अपेक्षा वायु अति

सूक्ष्म है। इसलिये इसका प्रवेश शरीर के उन अङ्गों से भी हो सकता है, जहाँ जल नहीं पहुँच सकता। परन्तु डाक्टरों को इस क्रिया में वह सफलता नहीं जो योगी को है। क्योंकि योगी प्राणायाम के अभ्यास से जहाँ चाहे वायु पहुँचा सकता है। यह सच है कि हमारे ऋषियों के बताये हुए नियमों का जितना अनुकरण आधुनिक विद्वान् करेंगे, उतना ही उनका यत्न फलीभूत होगा।

आजकल क्षय रोग का बड़ा जोर है। बालक से लेकर वृद्ध तक सब अपनी श्वास की गति बिगाड़ चुके हैं। उनके प्राण फेफड़ों के निचले भाग तक नहीं पहुँचते, और वहाँ रोग के जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। इसका उपाय केवल यही है कि दीर्घ श्वास लेकर सम्पूर्ण फेफड़ों को खोला जाय। जितना इसका अभ्यास करोगे उतना स्वास्थ्य लाभ करोगे।

दीर्घ श्वास से हृदय का रुधिर साफ होगा, उदर-सम्बन्धी व्याधियाँ दूर होंगी, और पाचन-शक्ति अच्छी रहेगी।

प्राणायाम से बल बढ़ता है—स्वस्थ शरीर और बलवान होता रहता है। प्राणायाम का इसमें अद्भुत चमत्कार है। दूर क्यों जाओ ? अपने देश-भाई राममूर्ति को देख लो। छाती के बल से लोहे की मोटी जंजीर तोड़ देता था। यह क्योंकर ? केवल प्राणायाम द्वारा। छाती में वायु भर लेने से उसमें अपूर्व शक्ति आ जाती है। प्रमाण चाहो तो यह भी स्वयं करके देख लो।

प्राणायाम से आधिदैविक शान्ति

उपासना में प्राणायाम का विधान इसलिए है कि इससे मन एकाग्र होता है। बाह्य जगत् के साथ मन का सम्बन्ध इन्द्रियों द्वारा होता है। जितने संकल्प-विकल्प हमारे अन्तःकरण में उठते हैं, उनका मूल कारण हमारी इन्द्रियाँ ही होती हैं, अतः मन को एकाग्र करने के लिये इन्द्रियों को वश में लाना चाहिये, परन्तु प्रत्येक इन्द्रिय का संचालक कोई न कोई प्राण अथवा उपप्राण है। अतः इन्द्रिय-दमन की कुँजी ही प्राणायाम है।

शरीर और प्राण का वही सम्बन्ध है जो रेलगाड़ी और भाप का है। ड्राइवर भाप की गति नियमित रखने से रेल की गति जैसी चाहता है करता है। यदि तुम भी शरीर रूपी गाड़ी के कृतकार्य ड्राइवर बनना चाहो, तो श्वास-रूपी वाष्प पर अपना अधिकार जमा लो।

आँखें हमारे वश में हैं। हम जब चाहें इन से देखें और जब चाहें इन्हें बन्द कर लें। वागिन्द्रिय की भी यही अवस्था है। परन्तु कान और नाक स्वतन्त्र हैं। योगी इन पर भी प्राणायाम द्वारा अधिकार जमा लेता है। उसकी समाधि में न तो कुवाक्य विघ्न डाल सकते हैं न दुर्गन्धि इत्यादि।

इस प्रकार प्राणायाम से त्रिविध शान्ति उपलब्ध होती है। इस क्रिया को कभी न भूलना चाहिए।

एक बात का ध्यान अवश्य रहे कि प्राणायाम में हठ न हो। जितना सुगमता से हो सके उतना ही अच्छा है। हठ करने से लाभ के स्थान में हानि होगी।

६–अघमर्षण-मन्त्राः

ओ३म् ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्य-
जायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१
ओ३म् समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतो वशी ॥२।
ओ३म् सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवंच पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

—ऋ० म० १० सू० १९२

अन्वय—ऋत च सत्यं च अभि-इद्धात् तपसः ओ३म् (परमात्मनः) अधिअजायत। ततः रात्रि अजायत। ततः अर्णवः समुद्रः (अजायत) ॥१॥

अर्णवात् समुद्रात् संवत्सरः अधि अजायत। ओ३म् वशी विश्वस्यमिषतः अहोरात्राणि विदधत् ॥२॥

ओम् धाता सूर्याचन्द्रमसौ दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षं अथ उ स्वः यथापूर्वम् अकल्पयत् ॥३॥

(ऋतम्) ज्ञान अर्थात् वेद (च) और (सत्यम्) प्रकृति (अभि) सब ओर से (इद्धात्) प्रकाशमान् (तपसः ओं) धर्म-स्वरूप, ज्ञानवान् परमात्मा से (अधि अजायत) उत्पन्न हुई (ततः) उसी ज्ञान स्वरूप से (रात्रि) प्रलय (अजायत) हुई (ततः) उसी से (अर्णवः) बड़ा (समुद्रः) समुद्र अर्थात् आकाश हुआ ॥१॥

(अर्णवात्) बड़े (समुद्रात्) समुद्र से अर्थात् आकाश के होने पर (संवत्सरः) काल (अधि अजायत) हुआ। (अहोरात्राणि) दिन रात (विश्वस्य) सारे जगत् के (वशी ओं) वश में रहनेवाले ओं ने (मिषतः) स्वभावतः (विदधत्) बनाए (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (धाता ओं) उत्पादक परमात्मा ने (यथापूर्वम्) पहिले की भाँति (अकल्पयत्) बनाए (दिवम्) प्रकाशमान लोकों को रचा और (पृथिवीम्) पृथिवी (च) और (अन्तरिक्षम्) रिक्त स्थान अर्थात् आकाश...... को (अथ) और (स्वः) सुखधाम या चमकते मण्डल भी रचे ॥२—३॥

इन तीन मन्त्रों में अनादि पदार्थों का वर्णन आया है। पहिले "ऋत" ज्ञान को और "सत्य" प्रकृति को लिया है। ज्ञान प्रकृति का गुण नहीं, अतः "ऋत" शब्द से जीव की ओर संकेत समझना चाहिए। साथ-साथ निमित्तकारण परमात्मा को बता दिया है।

संसार में सार क्या है ? यह अतिगूढ़ प्रश्न है । प्रकृतिवादी केवल प्रकृति का अस्तित्व मानते हैं । प्रकृति के नाना रूप प्रतिक्षण हमारी आँखों के सामने आते रहते हैं । कहीं सूर्य की तीखी चितवन, कहीं तारों की सुहावनी द्युति और कहीं चन्द्र की सुन्दर ज्योति । दूर क्यों जाओ, हमारे रहने के भवन और हमारी अपनी देह, यह सब उस छबीली नटी-प्रकृति ही के अद्भुत नाट्य हैं ।

इस बहुरूपी की कहीं स्थिति नहीं । जो पदार्थ जैसा आज है वैसा कल न होगा । एक दिन बीज, दूसरे दिन अंकुर फिर विशाल वृक्ष । कौन कहे वह वस्तु वास्तव में एक है ? ज्योतिषी कहते हैं कि सूर्य प्रतिदिन पतला हो रहा है, इसके परमाणु इससे अलग होते जाते हैं और प्रकाशमन्द पड़ता जाता है । यही अवस्था अन्य मण्डलों और लोकों की भी है । जिस गति से संसार के पदार्थ क्षण-क्षण में क्षीण होते हैं उससे अनुमान किया जाता है कि एक दिन ये इतने सूक्ष्म हो जायेंगे कि अदृश्य होंगे । वह रूप सब पदार्थों का सम होगा । जैसे मिट्टी से बने बर्तन आज भिन्न-भिन्न दीखते हैं, परन्तु कुम्हार जानता है कि एक समय सब मिट्टी थे, इसी प्रकार बहुरूपी प्रकृति भी प्रलय-काल में एक रूपी हो जाती है । उसी अवस्था को इन मन्त्रों में ''रात्रि'' कहा है । क्योंकि उस समय प्रकाश नहीं होता और चीजों का वैविध्य न होने से कुछ भी पहिचाना नहीं जाता । प्रकृति की इस अवस्था को ''कारण-दशा'' कहते हैं ।

जब परमाणुओं के संयोग से सृष्टि होती है तो यह प्रकृति 'कार्य' हो जाती है । जड़ प्रकृति स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती । वैज्ञानिक एक दूसरा पदार्थ ``Force" अर्थात् ''शक्ति'' मानते हैं । हम पूछते हैं, शक्ति चेतन है या जड़ ? जड़ हो तो उसके कार्य नियमित न होंगे । अन्धेर नगरी के राजा की भाँति न समय देखा जायगा न अधिकार । कोई अवस्था, कोई क्रम, कोई पद्धति न होगी । परन्तु वास्तव में संसार में अन्धेर नहीं, ब्रह्माण्ड का कण-कण अपनी नियन्त्री शक्ति को बुद्धिमती बताता है । उस शक्ति के लिये यहाँ शब्द ''अभीद्धात्'' आया है, अर्थात् सर्वथा चेतन और ''तपसः'' ज्ञान-स्वरूप । वही संसार का निमित्त कारण है । वही प्रकृति की विकृति करता और फिर उसे समावस्था में ले जाता है । +

प्रकृति कब से है ? परमात्मा कब से हैं ? जीव कब से है ? ये शङ्काएँ विचारशीलों को सदैव होती आई हैं । वेद इन तीनों पदार्थों को अनादि मानता है । विज्ञान तथा अनुभव भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं । यदि अब कोई चीज नूतन नहीं होती तो पहले क्योंकर नूतनता की कल्पना करें । सृष्टि का

+ न समता से विषमता स्वयं हो सकती है न विषमता से समता । नियन्ता के न होने में न प्रलय नियम होगा न सृष्टि का ।

प्रवाह कब से चला ? यह परमात्मा को कैसे सूझी कि 'समरूपा' को 'असमरूपा' करे, इसका उत्तर ''यथापूर्वम्'' और 'मिषतः' शब्दों में दिया है। आधुनिक सृष्टि परमात्मा का पहला परीक्षण नहीं, जो सफल हुआ। किन्तु ऐसे ही अनादि काल से अनेक चक्र होते आए हैं। जैसे परमात्मा अनादि, उसी प्रकार उसका स्वभाव स्रष्टृत्व भी अनादि। जब वह स्रष्टा अथवा प्रलयकर्ता न था, तब वह परमात्मा न था। अतः यह प्रलय और सृष्टि की शृङ्खला पहिले से ही चली आई तथा आगे भी चली जायगी। यह वह सूत्र है जो न आरम्भ हुआ न समाप्त होगा। अन्य जितने पदार्थ इन मंत्रों से कहे हैं वे प्रकृति के कार्य हैं उनके साथ और सारे ब्रह्माण्ड को सम्मिलित करो।

कई टीकाकार इन मन्त्रों में हेर फेर से सृष्टि का क्रम बताते हैं कि अमुक पदार्थ पहले हुआ, अमुक पीछे से। हमारे विचार में यह कल्पना अशुद्ध है। अर्णव समुद्र अर्थात् आकाश और संवत्सर अर्थात् काल (Space and time) सब से पूर्व ठीक हैं, क्योंकि इन्हीं में संसार विचरता है। आगे सर्वत्र क्रम नहीं बनता। इन मन्त्रों में परमात्मा को सृष्टिकर्ता तथा (वशी) नियन्ता बताकर सृष्टि की सामग्री (प्रकृति) और जीव के अनादित्व पर बल दिया है और प्रलय तथा सृष्टि-प्रवाह की अनादिता का अपूर्व वर्णन किया है।

अघमर्षण क्या ?

इन मन्त्रों का नाम अघमर्षण-मन्त्र है। अघ का अर्थ है पाप और मर्षण दूर करना, अर्थात् पाप को दूर करना। स्वामी जी का मत है कि जब जब पाप मन में आए, इन मन्त्रों का ध्यान करो, पाप हट जाएगा। इसमें हेतु क्या ? पाप का मूल केवल अपने स्वरूप तथा स्थिति का अज्ञान है ! कोई तो अपने आपको परमात्मा का बड़ा भाई समझता है और अन्य प्राणियों पर अत्याचार करना उस ज्येष्ठ भ्रातृत्व का स्वाभाविक फल जानता है। वह अपनी वास्तविक स्थिति से ऊँचा उड़ा। यह उक्त अज्ञान का एक रूप है, जिसे अभिमान कहते हैं। एक और महाशय अपना इतना भी अस्तित्व नहीं जानता, जितना जड़ प्रकृति का। वह रींगता है और गिड़गिड़ाता है। आत्म-विश्वास उस में नहीं, काम करने का उत्साह उससे दूर है। यह एक उक्त अज्ञान का दूसरा रूप है, जिसका लौकिक नाम 'भय' है। बस संसार में पाप जितना होता है, इन्हीं दो कुत्सित कारणों से होता है। जिसने इन दो का नाश किया, वह पापों से छूटा। रोग का नाश मूल के नाश से होता है। भला ! जिसने इन मन्त्रों में वर्णित ईश्वरीय महिमा का चिन्तन एक बार भी कर लिया, वह अभिमान क्या खाक करेगा ? जहाँ दरिया है वहाँ बिन्दु क्या ? लाखों करोड़ों जीवों की

आत्मा जिसके आगे हाथ बाँधे हैं उस पर एक जीव का दबाव हो ? असम्भव है ! रहा भय, उसका भी इसी चिन्तन से मूलोच्छेदन होगा । क्योंकि जो परमात्मा हाथी का रक्षक है वही चिउँटी का भी रक्षक है । अत्याचारियों तथा बलवानों के शिर पर उस शासक का दण्ड और दबाब है । तनिक आगे विचारो तो कर्म और फल की शृङ्खला से आवागमन का सिद्धान्त अवगत होगा और वही आधार है पवित्राचरण का ।

सन्ध्या में अघमर्षण इसलिये आया कि इन पर रोज ध्यान दिया जाय और पापों को दूर ही दूर रक्खा जाय ।

७–आचमन दूसरी बार

इस स्थल पर ''शन्नोदेवी'' मन्त्र से फिर तीन बार आचमन करो । कारण यह है कि अघमर्षण से पूर्व प्राणायाम किया है । प्राणायाम से कण्ठ, हृदय, उदर और फेफड़ा गर्म हो जाते हैं, और शुष्कता का अनुभव होता है । सूखे कण्ठ को तर करने तथा व्याकुल हृदय को शान्ति देने के लिये आचमन अत्यन्त लाभकर है । प्राणायाम और आचमन में अघमर्षण का अन्तर इसलिये रक्खा कि उष्ण अंगों पर तत्काल पानी डालना हानिकारक है । पथिक थका मांदा मार्ग से आए, तो उसे झट ही पानी पीने को नहीं देते, न अंगों पर ही तत्क्षण जल डालने देते हैं । जैसे–पथिक पहले कुछ विश्राम करता है वैसे ही यहाँ हम भी करते हैं ।

यों भी सन्ध्या में कई जगहों पर पानी पीने की आवश्यकता होती है जिससे मन्त्रोच्चारण में सुविधा हो । यदि ऐसे स्थल नियत हों तो व्यवस्था रहती है, इकट्ठी सन्ध्या करते हुए वैविध्य नहीं होता, और डेढ़ ईंट का अलग-अलग मन्दिर होने से फूट नहीं पड़ती । जातीयता में ऐसे नियम बहुत लाभकारी हैं ।

मन्त्र का अर्थ हो चुका है ।

हम पाठकों के सम्मुख अपना एक बार का अनुभव रखते हैं । सम्भव है उसका कुछ अंश उपासक-वृन्द के हृदय में आ जाए और वह आचमन के प्रयोजन को भली प्रकार जान सकें ।

मरी से पश्चिम और कोई १॥ (डेढ़) मील की दूरी पर फेरूमल की बावली है । सड़क से दक्षिण को एक निम्न स्थान में जहाँ पहुँचने के लिए कोई मील भर नीचे उतरना पड़ता है, और मार्ग में छोटे बड़े अनेक वृक्ष तथा पौधे आते हैं, यह बावली स्थित है । पथिक की दृष्टि यदि अकस्मात् पड़े भी तो नीचे खड़ा मनुष्य छोटा दीखता है । ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पार्थिव नहीं, कोई और सृष्टि होगी । हम स्नानार्थ उस बावली पर गए, व्यायाम किया,

नहाए, धोए और सन्ध्या के लिए एक पत्थर को आसन बनाया। पत्थर ठण्डा और स्वच्छ है। उसके दोनों ओर झरने का निर्मल पानी मधुर आलाप करता बहा जाता है। वायु शीतल और सुहावनी, धूप अति पवित्र और मनोहर। चारों ओर हरे चीड़ के वृक्षों की गोलाकार पंक्तियाँ। उनका क्रम ऐसा कि मानो किसी कमाण्डर ने अभी फालिन कराया है। मूल से कई फीट ऊपर तक नङ्गे। फिर नोकीली तीली के आकार के पत्तों से ढके। पत्तों का घेरा भी पहले चौड़ा फिर शनैःशनैः संकुचित होता गया है, यहां तक कि अन्त में एक नोक मात्र रह गई है। इस हरी प्राकार से नीचे पहाड़ के ढलान पर सीढ़ियों के रूप में क्षेत्र बोए हुए। सूर्य किरणे पानी के कणों में विचलित होती हुई सातों रङ्गों के विचित्र सम्मेलन से तल पर घास को मखमल और कीमखाब की चमक देती है। उसपर कोई बादलका टुकड़ा अटका हुआ अति सूक्ष्म मलमल ओढ़े बालक की भाँति घुटने टेक-टेक कर पर्वत पर चढ़ा आता है।

प्रकृति-माता के बालक ! तू बहुत प्रसन्न है। आ पाठक ! बालक सा सरल चित्त बना और मेरे साथ सन्ध्या कर !

''शंयोरभस्रवन्तु'' अब ज्ञात हुआ इसमें क्या रहस्य है। वायु की चपेट आई और शरीर को शान्ति दे गई। पक्षी चहचहाये, कानों ने आनन्द पाया। वृक्षों पर दृष्टि पड़ी और आँखों को अञ्जन मिला। जल शान्ति-मय है, वायु शान्ति-मय है, पृथ्वी शान्ति-मय है, मैं शान्ति-मय हूँ, मुख क्या, समस्त काया आचमन कर रही है, और तृप्त नहीं होती। रोम-रोम से शान्ति-रस देह के अन्दर टपकता है। आत्मा ने द्वार खोल दिए, परम-शान्ति का प्रवाह हुआ।

आनन्द कहाँ से टपकता है ? वह शान्ति का स्रोत, सकल आनन्द का निवास, जड़ चेतन का आत्मा, घट-घट में व्यापक, आत्मा की दिव्य-चक्षु द्वारा देखा गया। वह वाणि ! उसी को कह ! 'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये'। अरी शान्ति में निमग्ने ! कुछ कहने की शक्ति शेष है ?

८–गुरुमन्त्र दूसरी बार

आचमन के पश्चात् फिर गुरुमन्त्र का ध्यान करें।

९–मनसा परिक्रमा

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

—अथर्व० कां० ३० । सू० २७ मं० १॥

अन्वयः—(प्राची) प्राच्याः (दिक्) दिशः अग्निः अधिपतिः असितः

रक्षिता अस्ति, (तस्य) आदित्याः इषवः (सन्ति) तेभ्यः अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः नमः ३, एभ्यः इषुभ्यः नमः २ अस्तु । यः अस्मान् द्वेष्टि यं (च) वयं द्विष्मः तं वः जम्भे दध्मः ।

पदार्थ—(प्राची), प्राच्यः पूर्व अथवा जिस ओर मुख हो उस (दिक्-दिशः) दिशा का (अग्निः) प्रकाश-स्वरूप ओ३म् (अधिपतिः) राजा है । सो (असितः) बन्धन-रहित (रक्षिता) रक्षक है । उसके (आदित्याः) सूर्य की किरणें अथवा अठतालीस वर्ष के ब्रह्मचारी (इषवः) तीर वा शक्तियाँ हैं । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिपति (रक्षितृभ्यः) रक्षक के लिए (बहुवचनमादरार्थम्) (नमः ३) बार-बार नमस्कार हो । (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) वाणों अथवा शक्तियों के लिए (नमः) बार २ नमस्कार (अस्तु) हो । (यः) जो (अस्मान्) हम मनुष्यमात्र से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, (यम्) जिससे (वयं) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, (तं) उसको (वः) आपके (जम्भे) न्याय रूप जबड़े में (दध्मः) धरते हैं ।।१।।

ओ३म् दक्षिणा दिगिन्दोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितरः इषवः । तेभ्यो...दध्मः ।।२।।

—अथर्व० कां० ३० सू० २७ मं० २।।

अन्वयः — दक्षिणा (दक्षिणस्याः) दिक् (दिशः) इन्द्रः ओ३म् अधिपतिः तिरश्चिराजिः (तिरश्चिराजेः) रक्षिता अस्ति (तस्य) पितरः इषवः (सन्ति) तेभ्यः०

शब्दार्थ :—(दक्षिण-दक्षिणस्याः) दक्षिण अथवा दाहिने हाथ की (दिक्-दिशः) दिशा का (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् ओ३म् (अधिपतिः) राजा (तिरश्चिराजिः) पृष्ठ रहित प्राणियों के समूह का (रक्षिता) रक्षक है । उसके (पितरः) विद्वान्-लोग (इषवः) वाण व शक्तियाँ हैं । आगे पूर्ववत् ।।२।।

ओ३म् प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो....दध्मः ।।३।।

—अथर्व० कां० ३० सू० २७ मं० ३।।

अन्वयः—प्रतीची (प्रतीच्याः) दिक् (दिशः) वरुणः अधिपतिः पृदाकू (पृदाकोः) रक्षिता । (तस्य) अन्नम् इषवः । (शिष्टं पूर्ववत्) ।।

शब्दार्थ—(प्रतीची-च्याः) पश्चिम अथवा पीठ की ओर की (दिक्-शः) दिशा का (वरुणः) श्रेष्ठ (अधिपति) राजा पृदाकूः (पृदाकोः) पृष्ठधारी प्राणी का (रक्षिता) रक्षक है, उसकी (इषवः) शक्तियाँ (अन्नम्) अन्न हैं । आगे पूर्ववत् ।।३।।

ओ३म् उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः । तेभ्यो..दध्मः ॥४॥

अन्वय—उदीची (उदीच्याः) दिक् (दिशः) सोमः अधिपतिः स्वजः रक्षिता । (तस्य) अशनिः इषवः । (शिष्टं पूर्ववत्) ॥

पदार्थ—(उदीचा-च्याः) बाएँ हाथ का अथवा उत्तर (दिक्-शः) दिशा का (सोमः) शान्ति-स्वरूप ओ३म् (अधिपतिः) राजा (स्वजः) स्वस्मात् जायते भवति इति स्वजः स्वयंभूरीश्वरः अथवा सुष्ठु प्रकारेण अजः अजन्मा इति स्वजः सुष्ठु अजन्मा) (स्वयंभू अथवा भली प्रकार अजन्मा) (रक्षिता) रक्षक है, उस की (अशनिः) बिजली (इषवः) वाणस्थानी है । आगे पूर्ववत् ॥४॥

ओ३म् ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो....दध्मः ॥५॥

अथर्व० कां० ३० सू० २७ मं० ५॥

अन्वय—ध्रुवाः (ध्रुवायाः) दिक् (दिशः) विष्णुःअधिपति रक्षिता (अस्ति, तस्य), कल्माषग्रीवः (कल्माषग्रीवाः) वीरुधः इषवः । शिष्टं गतम् ।

शब्दार्थ—(ध्रुवायाः) नीचे की (दिक् दिशः) दिशा का (विष्णुः) सर्वव्यापक (अधिपतिः) राजा ओ३म् (रक्षिता) रक्षक है । उसके (कल्माषग्रीवः-वाः) हरी, गर्दन अर्थात् शाखाओं वाले (वीरुधः) पेड़ (इषवः) वाणस्थानी हैं । आगे पूर्ववत् ।५॥

ओ३म् ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो...दध्मः ॥६॥

अथर्व० कां० ३० सू० २७ मं० ६।

अन्वय—ऊर्ध्वा (ऊर्ध्वायाः) दिक् (दिशः) बृहस्पतिः अधिपतिः श्वित्रः रक्षिता (अस्ति, तस्य) वर्ष इषवः शिष्टं पूर्ववत् ।

शब्दार्थ — (ऊर्ध्वा-ऊर्ध्वायाः) ऊपर की (दिक्, दिशः) दिशा का (बृहस्पतिः) बड़ों का अथवा वाणी का स्वामी (श्वित्रः) पवित्र (रक्षिता) रक्षक है। उसकी (वर्ष) वर्षा (इषवः) बाणस्थानी है । आगे पूर्व के सदृश ॥६॥

मनसा परिक्रमा का अर्थ मन द्वारा चक्कर काटना है । जिस-जिस दिशा का वर्णन उपरिस्थ मन्त्रों में हुआ उसका, चिन्तन करते हुए परमात्मा की सर्व व्यापकता का निश्चय करना चाहिये ।

पौराणिक भाई सन्ध्या में एक स्थल पर शरीर द्वारा चक्र काटते हैं । मुख को पहले पूर्व, फिर दक्षिण इत्यादि दिशाओं में फेर कर पूर्ण परिक्रमा करते हैं।

चार दिशाओं में ऐसा हो सकता है। पर ऊपर नीचे के लिए क्या हो ? इसके लिए कलाबाजी को लिया करें तो क्रिया की पूर्ण सिद्धि होगी।

आर्यसमाज में कहीं-कहीं इस बात पर बल दिया जा रहा है कि सन्ध्या में पूर्वाभिमुख बैठो। इसमें कुछ युक्तियाँ भी दी जाती हैं। जैसे उदय होते सूर्य का दर्शन जिससे आत्मिक जीवन सुवर्णमय हो जाता है। परन्तु स्वामीजी ने पञ्च महायज्ञविधि में प्राची दिशा का अर्थ पूर्व अथवा वह दिशा जो मुख के सामने हो, किया है। पूर्वाभिमुख सन्ध्या से जो लाभ बताए जाते हैं, वह दूसरी दिशाओं में भी प्राप्त हो सकते हैं। सन्ध्या में दिशा का बन्धन नहीं। विशेषतया जब सन्ध्या समूह में हो तो बैठने का यह नियम नहीं हो सकता।

इसलामी भाई नमाज में पश्चिमाभिमुख खड़े होते हैं। पंक्ति के पीछे पंक्ति सुन्दर प्रतीत होती है। आर्यों में बैठने के क्रम का निम्नलिखित नियम अच्छा होगा। सामूहिक सन्ध्या में अग्रणी का आसन एक ओर रहना चाहिए, शेष लोगों की एक पंक्ति चारों ओर भवन तथा स्थान की सीमा पर लग जानी चाहिए। इससे अधिक जो लोग हों, उनकी पंक्तियाँ अग्रणी की ओर मुख किये उसके सामने लग जायें, तो एक सुन्दर क्रम बन जायेगा।

स्थान तथा समय के अनुसार क्रम बदला जा सकता है। ऐसे ही सामूहिक हवन इत्यादि में भी कोई सुन्दर सा क्रम रखना चाहिए।

मन्त्रों में 'अधिपति' शब्द छः बार दोहराया है। प्रत्येक दिशा का स्वामी ओ३म् है। उसी को अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम विष्णु और बृहस्पति कहा है। उसी को असित (बन्धन रहित, कालिमा रहित) तथा श्वित्र (पवित्र) कहा है। वही अज है, जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आता। यह शब्द एक दूसरे की व्याख्या करते हैं।

'अधिपति' शब्द के साथ 'रक्षिता' शब्द दोहरा कर वेद ने यह सच्चाई प्रतिपादित की है, कि आधिपत्य अर्थात् राज्य का अभिप्राय रक्षा है अत्याचार तथा बल प्रदर्शन नहीं। परमात्मा आदर्श राजा है। उनके राज्य में अन्याय अथवा स्वार्थ से काम नहीं लिया जाता। सब प्राणियों का हित किया जाता है। राज्य का कर्तव्य प्रजा के प्रति इससे और अच्छा क्या प्रतिपादित होता है।

मनुष्य को प्राणियों का राजा कहते हैं। उसका कर्तव्य भी यही है कि सब प्राणियों का पालन करे। प्राणी उसके भक्षण के लिए नहीं रक्षण के लिए हैं।

परमात्मा की शक्तियाँ अनन्त हैं। कतिपय शक्तियों के वर्णन से उसकी अतीव शक्तिमत्ता की ओर संकेत है। सूर्य की किरणें प्रकाश देकर जागत की कार्यसिद्धि का अपूर्व साधन हैं। संसार की भट्ठी इन्हीं से गर्म और कार्य परायण है। वायु तथा आकाश की शुद्धि इन्हीं से होती है। विद्वान् और ब्रह्मचारी जिस जाति में नहीं उसका जीवन पाशविक है। अन्न अनाज को भी कहते हैं, पृथ्वी

आदि पदार्थों को भी। विद्युत् जगत् की ज्योति है। इसका प्रसरण अणु-अणु में है। संसार की धर्त्री शक्तियों में विद्युत् का स्थान बड़ा है। बेल बूटे और वर्षा, आत्मिक तथा शारीरिक शान्ति के पुञ्ज हैं।

इन पदार्थों के प्रयोगों और उपयोगों पर कई ग्रन्थ लिखे जाएँ तो भी लेख अपूर्ण रहेगा। हमारा कर्तव्य यह है कि हम दाता के दान से पूर्ण लाभ उठाएँ।

कई टीकाकार यह यत्न करते हैं कि जिस-जिस दिशा के साथ प्रभु के जिस नाम और शक्ति का उल्लेख हुआ है, उसका सम्बन्ध उस दिशा में जोड़ें। कवियों की कल्पना में यह आनन्द रहस्य होता है परमात्मा आदि कवि हैं। उनकी रचना भी आनन्द से शून्य नहीं। परन्तु जिन्होंने वेद का पाठ किया है वे जानते हैं कि प्रत्येक स्थान में यह बात नहीं पाई जाती। लौकिक कविता में भी ऐसी रचना तब तक सुहाती है जब तक इसका प्रयोग कहीं-कहीं आए। अति हुई और काम बिगड़ा।

परमात्मा के किसी नाम विशेष का सम्बन्ध किसी दिशा विशेष से नहीं। न ही उसकी शक्तियों का कार्यक्षेत्र दिशाओं द्वारा परिमित है। वर्षा ऊपर से होती है और बेल बूटे नीचे से उगते हैं। विद्वानों को दाहिने हाथ बिठाओ, यह सभ्यता है। आदित्य अग्रणी होते हैं।

इस सूक्त के भौतिक अर्थ करने में यह व्यवस्था काम दे सकती है।

''ओ३म् भूः पुनातु शिरसि'' इत्यादि वाक्यों के अर्थ में भी ''भूः'' को शिरः के साथ मिलाने का यत्न किया जाता है। सो कविता का बिगाड़ना है। ऐसी खेंचतान की यहाँ आवश्यकता नहीं।

सर्वव्यापक के गुण भी सर्व-व्यापी हैं, शक्तियाँ भी।

जब मनुष्य के हृदय में यह भाव उमड़ा, कि देखो, वह अधिपति किस तरह भाँति-भाँति के बाणों से हमारी रखवाली करता है तो कृतज्ञता के भार से जीव दब गया। रहा न गया, बलिहारी-बलिहारी कहकर परमात्म-देव के ऊपर न्यौछावर हो गया। इधर नमः नमः कहा और उधर परिक्रमा द्वारा उस आनन्द-मद का मतवारा हुआ।

याद आया कि हमारे तो बैरी भी हैं। हम उनसे विरोध करते हैं, वे हमसे। यहाँ यह व्रत लिया जा रहा है कि रक्षक ही प्रजा का रक्षण करेंगे। ध्यान आया कि हम क्या हैं, जो किसी द्वेष का बदला लेंगे। परमात्मा का न्याय अटल है। निर्णय के लिये उसी की शरण लो।

साथ रखे वासनों में खट-खट होगी। कभी-कभी किसी विषय पर वैपक्ष्य हो जाना साधारण बात है। जीते प्राणियों में वैमनस्य नैसर्गिक है ! बात यह है कि मत की विभिन्नता में भ्रातृभाव छूटे ? माँ-जाए भाई भी एक दूसरे को मारते हैं, परन्तु माता की गोदी में फिर एक हो जाते हैं। ऐसे ही व्यवहार

का प्रण इन मंत्रों में किया गया है ।

महाभारत के युद्ध की विधि यही थी । राजपूतों के समर का नियम वही। दिन को लड़े, रात को भोजन इकट्ठा किया । सन्ध्या-समय विरोध कैसा ? भीष्म से उपदेश लेने पाण्डव ही तो गये थे ।

१०–उपस्थान

'उपस्थान' का अर्थ है निकट बैठना, यही अर्थ 'उपासना' शब्द का है। इन शब्दों से विशेषतया परमात्मा के निकट होना ग्रहण किया जाता है । सन्ध्या का दूसरा नाम सन्ध्योपासना भी है, जिससे स्पष्टतया सिद्ध है कि सन्ध्या का मुख्य भाग तथा उद्देश्य उपासना है । श्री स्वामीजी 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में उपासना की व्याख्या यों करते हैं—

''जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्व-व्यापक, अपने आप को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर हैं, ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात्कार करना 'उपासना' कहाती है । इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है ।

इन्हीं शब्दों से आगे आने वाले मन्त्रों का महत्व समझ लेना चाहिए। सन्ध्या का सार अब आएगा 'सम्यक्तया ध्यान' आगे लगेगा । पिछले मन्त्र सब इसी भाग के लिये तैयारियाँ मात्र थे । अब तक यम-नियम का प्रतिपादन हुआ। अब समाधि आई है । आनन्द तब है कि इस स्थल पर पहुँचते ही वस्तुतः समाधि की अवस्था हो ।

उपस्थान मन्त्र (१)

ओं उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।।

यजु० अ० १८ । मन्त्र २४॥

अन्वयः—वयं तमसः परि (पृथक्) स्वः देवत्रा (देवेषु) देवं उत्तरं सूर्य ज्योतिः उत् पश्यन्तः उत्तमम् अगन्म ।

(वयं) हम (तमसस्परि) अन्धकार अर्थात् अशान्ति और पतन से दूर (स्वः) प्रकाश तथा सुख स्वरूप (देवत्रा) प्रकाशमानों में (देवं) अति प्रकाशमान (उत्तरं) प्रलय के पश्चात् रहने वाले (सूर्य) सर्व-व्यापक (उत्तमं) महान् (ज्योतिः) प्रकाश को (पश्यन्तः) देखते हुए (उत् अगन्म) भली भाँति प्राप्त हों ।

अब उपासक उस सीढ़ी पर आया जिसके लिये जन्मकाल से परिश्रम था उसके हृदय में शुभ इच्छा स्फुरित हुई । कैसी मङ्गलमयी, कैसी सौभाग्य भरी इच्छा ! कि अपने प्रियतम परमपिता को एक दृष्टि से देखूँ और उसकी गोद

में समा जाऊँ । हैं ? देखूँ ? देखना दूरस्थ पदार्थों का होता है । यदि अंजन को देखना हो तो उसे आँख में मत लगाओ । अपनी पुतली, जो आँख के अन्दर है, आज तक किसी ने नहीं देखी । वह परम-प्यारा, पुतली क्या ? उसकी सूक्ष्म दृष्टि के भी अन्दर समाया हुआ है । फिर उसे देखें कैसे ? हाँ, भौतिक पदार्थों के देखने को भौतिक आँख और उसे दूरी की भी आवश्यकता है । परमात्मा अखण्ड है, वह बाह्य आँखों से देखा नहीं जाता, उसका दिव्यचक्षु अर्थात् आत्मा के अनुभव द्वारा साक्षात्कार होता है । इसी प्रयोजन से इस मन्त्र में 'पश्यन्त' आया है । 'अगन्म' इससे दूसरी क्रिया नहीं, किन्तु उस निरन्तर विद्यमान, दूर तथा निकट एक रस रहने वाले का देखना और मिलना, छाती से लगाना और गले से लपटना—लो फिर व्यवहार की बात होने लगी—एक है ।

वह छबीला वह सजीला, वह महान् मनोहर, वह परम प्रभाकर है कैसा ? मन्त्र में उसे 'तमसस्परि' कहा है अर्थात् अन्धकार रहित, अज्ञान से दूर अज्ञानियों को प्राप्त न होनेवाला । 'स्व' देवत्रा देव' 'उत्तमं ज्योतिः' अर्थात् पूर्ण प्रकाश । तो क्या वह रात्रि के समय लुप्त होता है और मध्याह्न में प्रदीप्त हो चमकता है ? दीपक की बत्ती के ऊपर तो विद्यमान है परन्तु मूल में नहीं । भोले भाई ! भौतिक संसार में निमज्जित रहने वाले प्राणी ! 'उत्तमं ज्योतिः' न सूर्य का प्रकाश है न विद्युत का आभास, न प्रभात की रङ्गीली छटा, न सायंकाल की सुनहरी लाली । वह बेलाओं से ऊपर है और वेलायें उससे प्रकाशित हैं । वह मण्डलों का स्वामी है और मण्डल उससे व्याप्त हैं । उसकी प्रकाशित धूप तथा परछाई, शशि तथा निशि दोनों में एक-रस एकरूप से दीप्तिमान । उपासकों के हृदयों द्वारा अनुभूति ! नास्तिक और मूर्खों में लुप्त ! इस प्रकाश का दूसरा नाम आनन्द है, जो परमात्मा का स्वरूप है । उसके मिलने की इच्छा और फिर साधन, युक्त इच्छा ! सफलता इसके पाँव चूमेगी । कृतकार्यता अगुवाई करेगी !

१२--उपस्थानमन्त्र (२)

ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥२॥ ऋ० मण्डल १ । सू०५० । मं० १॥

अन्वयः—त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं विश्वाय (विश्वेषां) दृशे (द्रुष्टुं) केतवः उद्वहन्ति ।

पदार्थः—(त्यं) उस (जातवेदसं) सकल ब्रह्मांड की सुध रखने वाले यद्वा

कार्य कारण की विज्ञप्ति कराने वाले (देवं) प्रकाश स्वरूप (सूर्य) सर्व-व्यापक (ओ३म्) को (विश्वाय) सबसे (दृशे) देखने के लिये (केतवः) झण्डियाँ (उत्, वहन्ति) हिलती है।

मुमुक्षु इच्छा-रूपी यान पर चढ़ चुका। उसे मार्ग की आवश्यकता है। नेता की खोज में मतवारा फिरता है। मोक्षधाम पहुँचना है, कहाँ जाए ? दर्शनामृत के पिपासो ! तू चिन्ता न कर, तू साधना का टिकट लेकर यान में आया है। तुझे पहुँचाने का उत्तरदायित्व औरों का है। गाड़ी नियत स्थान को जा रही है।

वह देख। सीटी बजी। घण्टी हुई ! झण्डी हिली ! गाड़ी मार्ग में है। कौन सा मार्ग ! वेद का। एक-एक ऋचा को पढ़। परमात्मा की द्योतिका है।

कोई उत्सव है ? घर, बार, गली, बाजार, नीचे, ऊपर, अन्दर, बाहर झण्डियाँ ही झण्डियाँ हैं। इनके संकेत को समझ और इनके पीछे जा। तारों की दीपमाला किसके स्वागत के लिए हैं। केवल आज नहीं, रोज। प्रभात की छटा किस वैज्ञानिक का आविष्कार है ? चन्द्रकला और सूर्यप्रभा किस शिल्पी का शिल्प है ? समुद्र गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाता है। बादल गरज-गरज कर घोषणा करते हैं। पशु पग न हिलाएँ। न कौओं की काँए-काँए, न पत्तों की सांए-सांए। वहाँ भी तो निःशब्द प्रकृति मौन भाषा में स्व-स्वामी का स्मरण कराती है। तू न देखे और न सुने तो अपराध किसका ? देखने वाली आँख खोल। मौन भाषा में नाद होता है– 'रङ्गी के रङ्ग'।

१३–उपस्थानमन्त्र (३)

ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥३॥ यजु० ७-३

अन्वयः—चित्रं देवानां (देवान्) उत् अगात् (स) अनीकं (अस्ति)। द्यावापृथिवी (द्यावापृथिव्या) अन्तरिक्षं आप्रा। जगतः तस्थुषः च सूर्यः आत्मा (अस्ति) स्वाहा।

पदार्थः—(चित्रं) विचित्र (देवानां) प्रकाशमानों और दिव्य स्वभाव युक्तों में (उत् अगात्) भली प्रकार प्रकट (अनीकं) बल-स्वरूप (मित्रस्य) हितकारियों वा सूर्य का (वरुणस्य) श्रेष्ठ पुरुषों का जल का (अग्नेः) ज्ञानियों वा अग्नि का (चक्षुः) मार्ग-दर्शक वा द्रष्टा (द्यावापृथिवी) प्रकाश युक्त लोकों और प्रकाश शून्य विस्तृत लोकों (अन्तरिक्ष) आकाश में (आप्रा) व्यापक (जगतः) चर अर्थात् चलने वालों (च) और (तस्थुषः) न चलनेवाले जड़ पदार्थों का (आत्मा) आत्मा और (सूर्यः) व्यापक है। (स्वाहा) यह वाणी अति सुन्दर है अथवा यह कामना पूर्ण हुई।

मुमुक्षु मोक्ष-धाम में है। अभी देखा था, उसे इच्छा थी। परन्तु साधन-युक्त इच्छा शक्ति-शालिनी होती है। वही इच्छा सफलता में परिणत हुई।

वेद-मार्ग निकल आया। संसार के एक-एक अणु ने झण्डी का काम दिया। और पथिक वहाँ पहुँचा, जहाँ जाना अभीष्ट था। उस जगह का अनुभव भी सुन लो।

कहाँ वह प्रकृति-मय असत् जगत्! कहाँ आत्मिक प्रभा के कौतुकमय चमत्कार! वहाँ कलह, यहाँ शान्ति। वहाँ तमः यहाँ सत्। वहाँ बैर, यहाँ प्रेम। मुमुक्षु चकित है। विवश मुख से निकलता है, ''चित्र''! और कोई वाक्य ही नहीं, जिसमें जो देखा है दिखाये।

आज सकल संसार दिव्य है। क्योंकि दिव्य दृष्टि से देखा गया। वस्तु-वस्तु में परम देव की झलक! अणु-अणु में विभु ईश की चमक! वसन्त ऋतु में हरे वृक्ष भी पीले दीखते हैं। हरे चश्मे में आकाश भी हरा, पृथिवी भी हरी, धूप भी हरी और छाया भी हरी। कल यही जल था, उसकी उमड़ से काँपे जाते थे। यही अग्नि थी, उसकी लपट से कलेजा थर्राता था। यही सूर्य था जिसकी किरणें आग्नेय बाण थीं। आज दृष्टि के परिवर्तन से जल सौम्य है, अग्नि पावक और सूर्य ज्योति का पुंज। ब्रह्माण्ड ब्रह्ममय है। व्यापक आकाश उससे व्याप्त है। दृढ़ पृथ्वी उसी से सुदृढ़ है। वही तारों की द्युति, वहीं चन्द्र सूर्य वही ''नेत्र'' होकर अग्नि का मार्ग-दर्शक, वही ''रस'' होकर वरुण (जल) का रस-वर्धक। और वही ''तेज'' होकर सूर्य का सविता, वही सर्व-वित्, उपदेशकों का उपदेष्टा। अग्नि को कौन कहता है ''ऊपर जा'' और जल को कौन सिखाता है ''निम्न स्थल पर बह ?'' वैज्ञानिक कहेगा, प्रकृति के नियम हैं। साधु! वही तो नियमो का नियामक है।

वास्तविक तत्व से भटकती हुई आँख! उस अदृश्य दृश्य को देख! सांसारिक स्वरों पर मोहित श्रोत्र! उस अश्रुत की श्रुति को सुन! अरी अण्ड बण्ड बक कर वृथा चलनेवाली जिह्वा! आत्म-नाश न कर, उस परम-पवित्र वाक्य ''ओ३म्'' का उच्चारण कर और पवित्र हो! कह! कह! फिर कह!

फूलों से तेरी शोभा, काँटों में तेरा दर्शन।
बगिया में तुझको ढूंढूँ, या वन में खोजूँ ? भगवन्!

१४–उपस्थान-मन्त्र (४)

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदःशतात्॥

ऋ० अष्ट० ५। अ०५। व०११। यजु० ३६-२४।

अन्वय—तत् चक्षुः देवहितं शुक्रम् पुरस्तात् उत् चरत् । शतं शरदः पश्येम, शतं शरदः जीवेम, शतं शरदः शृणुयाम, शतं शरदः प्रब्रवाम, शतं शरदः अदीनाः स्याम, शतात् शरदः च भूयः (अपि एवं स्यात्) ।

पदार्थः—(तत्) वह (चक्षुः) सर्व-दृक् (देवहितं) देवों का हितकारी (पुरस्तात्) सृष्टि से पूर्व का अजन्मा निर्विकार (शुक्रं) पूर्ण-बल (उत् चरत्) विचरता था उसको (पश्येम) देखें (शरदः शतं) सौ वर्ष अर्थात् बहुत काल तक (शरदः शतं) बहुत काल तक (जीवेम) जीवें (शरदः शतं) बहुत काल तक (शृणुयाम) सुनें (शरदः शतं) बहुत काल तक (प्रब्रवाम) बोलें (शरदः शतं) बहुत काल तक (अदीनाः स्याम) हम स्वतंत्र हों, अर्थात् किसी के दीन (मुहताज) न हों (च) और (शरदः शतात्) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक भी ऐसा ही हो ।

परमात्मा का ''चक्षु'' तथा ''देवहित'' इत्यादि होना पीछे दिखाया जा चुका है । उपस्थान मन्त्र (१) मैं ''उत्तर'' आया था, यहाँ ''पुरस्तात्'' आया है । इसका अर्थ है ''जो सृष्टि से पूर्व हो और उसके पश्चात् रहे'' । यों तो जीव भी अनादि और अनन्त है, एवं प्रकृति भी । परन्तु भेद यह है कि यहाँ यह दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में आते हैं, परमात्मा एक रूप रहता है । जीव कभी बन्धन में कभी मुक्त, ब्रह्म मुक्त स्वभाव होने से सदैव मुक्त प्रकृति कभी कारण कभी कार्य । किन्तु परमात्मा सदैव कारण (निमित्त) ।

ऐसे शुद्ध बुद्ध सर्व-दृक् देवहित के दर्शन से कृतार्थ हो जीव की अभिलाषा है कि यह सुख, यह प्रियतम के मेल का आनन्द क्षणिक न हो । बहुत काल तक रहे । उस पूर्ण-प्रभा की द्युति आँखों के लिये सदैव दीपक हो । सारी इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहें । जो देखा जाए, वह जीवन में आये । जो सुना जाए, वह उपदेश बने । आँखों में दृष्टि रहे, कानों में श्रुति रहे । मुख में वाक् नासिका में प्राण हों । सौ के हों चाहे और भी अधिक के बुद्धि में वृद्ध हों, शक्ति में युवा और सरलता में शिशु (बालक) ।

वेद में दीर्घ जीवन की कई बार प्रार्थना की है । जीवन कर्ममय हो और उससे लाभ उठाया जाए, तो इससे उत्तम कल्याण की वस्तु और है ही नहीं ।

१५—गुरुमन्त्र तीसरी बार

आरम्भ में गुरुमन्त्र से शिखा-बन्धन किया था । जैसे मार्जन मंत्रों में शिर से आरम्भ करके शिर पर ही समाप्ति करते हैं वैसे यहाँ भी साधकने जहाँ से आरम्भ किया था, वहीं फिर पहुँच जाता है । अभिप्राय यह कि, सारा चक्र समाप्त हो चुका है । पहिली बार गायत्री द्वारा उपस्थान का आदर्श सामने रखा जाता है । जब यम नियम तो क्या, उपस्थापन भी हो चुका तब वस्तुतः अनुभव

होता है कि हम "सवितुर्देवस्यभगः" धारण कर रहे हैं तीनों लोकों में से गुजर चुके, तीनों वेदों के मन्त्रों का उच्चारण किया, तीनों प्रकार का प्राणायाम किया। कसर कौन सी रही। "भूः भुवः स्वः" बस सार्थक है। 'भर्गः' अपने अन्दर लेने का फल क्या ! यही कि आत्मा में नई तथा उत्तम शक्ति का समावेश हुआ। चुम्बक से लगा हुआ लोहा कुछ समय चुम्बक का गुण धारण करता है। इसी प्रकार परमात्मा के सामीप्य से आत्मा भी वह गुण लेता है, जो "आपःदेवी" में है। आगामी काल के लिये उसे सन्मार्ग में प्रेरणा होती है।

१६–नमस्कार मन्त्र

ओ३म् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च। नमः शंकराय च मयस्कराय च। नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

यजु० अ० १६। म० ४१ ॥

(शम्भवाय) कल्याण-स्वरूप (च) और (मयोभवाय) सुखस्वरूप (शङ्कराय) कल्याणकारी (च) और (मयस्कराय) सुखकारी (शिवाय) आनन्ददाता (च) और (शिवतराय) अति आनन्ददाता ओ३म् के लिये (नमः३) अनेक बार प्रणाम हो।

समाधि से उठने से पूर्व परमात्मा को नमस्कार करते हैं, यह शिष्टाचार भी है, भक्ति भी। परमात्मा शम्भु हैं, शङ्कर हैं, शिव हैं, अर्थात् प्रथम तो वह स्वयं शान्ति का भण्डार हैं, फिर जो उसकी शरण लेते हैं, उन्हें त्रिविध तापों से शान्त करता है। वही वास्तविक सुख का दाता है। कैसी उत्तम शिक्षा मिली ! यदि शङ्कर बनना चाहो तो पहले शम्भु बनो। जो स्वयं चिड़-चिड़े हैं, वे दूसरों का क्रोध नहीं हर सकते जो स्वयं भयभीत हैं, वे औरों के लिए अभय-प्रदान क्या करेंगे ? पहले आप शान्त बनो फिर औरों को शान्ति दो। परमात्मा व्रत-पति हैं, उसके संसर्ग का फल यही है कि हम व्रतों से स्खलित न हों।

शान्तिमय पितः ! नमस्ते ! हमारी बार-बार नमस्ते !!
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!
हमें त्रिविध शान्ति प्रदान करो।

●

ओ३म्

सन्ध्या अष्टाङ्ग योग

लेखक
श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती

ओ३म्

कुछ पंक्तियाँ

दयानन्दाब्द १०९ विक्रमाब्द १९९० तदनुसार ईस्वी सन् १९३३ में कुछ महानुभावों की प्रेरणा से प्राणायाम, अधमर्षण तथा मनसा परिक्रमा के आध्यात्मिक व्याख्यान रूप एक पुस्तक 'सन्ध्या के तीन अङ्ग' नामक लिखी थी। उस समय मैं मुक्तिराम उपाध्याय के रूप में था। उस पुस्तक की २००० प्रतियाँ छपवाई गई थीं जो कि समाप्त हो गई थीं।

अब लगभग एक वर्ष से आचार्य भगवानदेव जी कह रहे थे कि इस पुस्तक की माँग बहुत है, यदि इस भाँति सम्पूर्ण सन्ध्या का ही आध्यात्मिक व्याख्यान लिख देवें तो छपवा दिया जावे।

वर्ष भर कई रोगों से ग्रस्त रहने के कारण उनकी प्रेरणा का व्यावहारिक उत्तर न दे सका। यद्यपि काम दो तीन दिन का ही था परन्तु कुछ विवशताएँ बनी ही रहीं। अब उन्होंने फिर याद दिलवाया। यह उन्हीं की प्रेरणा का ही फल है कि पूर्व व्याख्यान में भी कुछ परिवर्तन और परिवर्धन के साथ शेष सन्ध्या मन्त्रों का भी आध्यात्मिक व्याख्यान लिखकर आर्यपुरुषों को भेंट कर रहा हूँ। सन्ध्या एक क्रमिक अष्टाङ्ग योग है और यह इस व्याख्यान में स्पष्ट किया गया है।

मन्त्रार्थ ऋषि के ही हैं मेरी केवल वाक्य योजना है। आशा है विद्वान् महोदय मेरी त्रुटियों से सूचित कर अनुगृहीत करेंगे।

निवेदक

आत्मानन्द सरस्वती

प्रस्तावना

वेदमन्त्रों के व्याख्यान तीन प्रकार के होते हैं आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक । अपने जीवन काल में मनुष्यों का सम्बन्ध और संघर्ष भी भूतों, देवों और अध्यात्मतत्त्वों से ही होता है । इस सम्बन्ध का योग्यतापूर्वक निर्वाह जिस विधि से होना चाहिए, उसका उपदेश मनुष्य को वेद के अतिरिक्त और किसी से नहीं मिल सकता । और सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए मनुष्य को, उसके लिये उपयोगी एवं आवश्यक कर्म-समुच्चय का उपदेश देने के लिये प्रादुर्भूत हुए वेद को उन सब पदार्थों का तत्त्वबोध कराना भी अवश्य चाहिए, जिनका कि मनुष्य की जीवन यात्रा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है । वेद सम्पूर्ण विद्याओं का भण्डार माना जाता है, इस भावना को पुष्ट एवं युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिये भी प्रथम यह मानना पड़ता है कि वेद में संसार के सब नाम रूपों का व्याख्यान है ।

उपर्युक्त वेद के तीन विषयों में संसार के सब नाम रूपों का संग्रह है . भूत नाम प्राणी का है इसलिए आधिभौतिक विषय में संसार के सब प्राणियों का समावेश है । अग्नि, वायु, विद्युत् और सूर्य आदि, पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक के अनेक तत्त्वों का नाम देव है । इस लिये आधिदैविक विषय में सम्पूर्ण निर्जीव जगत् सन्निविष्ट है । आध्यात्मिक विषय में, आत्मा और आत्मा के निकट सम्बन्धी-शरीर के अंग, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, बुद्धि और अन्तरात्मा का समावेश हो जाता है । इस प्रकार वेद में संसार के सब तत्त्वों का जो कि मनुष्य के लिये आवश्यक है और जिनका मनुष्य के साथ सम्बन्ध है, व्याख्यान है ।

वेद में ऐसे भी मन्त्र हैं जो आधिभौतिक आदि किसी एक विषय का ही वर्णन करते हैं । आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों में से दो-दो और तीन-तीन विषयों का वर्णन करने वाले भी बहुत से मंत्र हैं । पूज्य ऋषिवर ने अपने वेद-भाष्य में अनेक स्थलों पर एक-एक मंत्र में कई-कई विषयों का भाव दर्शाया है । सन्ध्या के प्रायः सब मंत्रों में दो-दो और कहीं कहीं तीन-तीन विषयों की झलक है । इस छोटी सी पुस्तिका में संध्या के आध्यात्मिक भावों को ही स्पष्ट करने का यत्न किया गया है ।

जिन पूज्य महर्षियों की विचार माला से इस पुस्तिका में सहायता ली गई हैं, उनको बार बार प्रणाम । डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा महोदय की 'हमारे शरीर की रचना' पुस्तक से भी कुछ स्थलों के लिये सहायता ली गई है, उनका भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

मैं इस कार्य में कतिपय आर्य सज्जनों की प्रेरणा से प्रवृत्त हुआ हूँ । परन्तु

है यह अधिकांश में अनधिकार की चर्चा । इन उन्नत अध्यात्म-भावों की चर्चा तो उन पूज्य महानुभावों की करनी चाहिये, जिनका आसन उपासक समाज में ऊँचा हो । दूसरी बात यह भी है कि बालक के हाथ में खिलौना, उसकी परिस्थिति और योग्यता को ध्यान में रखकर देना चाहिये । आज मानव समाज में ऊँची अध्यात्म-भावना के अधिकारी कहीं कोई विरले ही मिलते हैं । अतः ऐसे विचारों का प्रकाश उतना अधिक लाभदायक भी नहीं है । यही कारण था कि पूज्य महर्षि ने लोगों को उतना ही प्रसाद बाँटा जितना कि उनके हाथों में समा सकता था । भाष्य भूमिका की संस्कृत अधिक से अधिक सरल लिखी, और उससे भी संतुष्ट न होकर उसका आर्यभाषा में अनुवाद कर दिया । नित्य कर्मों में पठित मंत्रों के अर्थ उतने ही सरल किये, जितनी कि उनके पाठकों की योग्यता और अध्यात्म कर्म में गति थी । आजकल के लेखकों में और महर्षि में यही तो विशेष अन्तर है । हमें चिन्ता रहती है कहीं हमारी योग्यता कम न प्रतीत हो, और उन्हें ध्यान रहता था कि जिनके लिये हम लिख रहे हैं कदाचित् वे न समझें ।

ऊपर की पंक्तियों में अपने ऊपर किये गये अपने दो आक्षेपों का अपने ही मनस्तोष के लिये जो थोड़ा-सा समाधान किया जा सकता है वह यह है—

भाव ऋषियों के हैं अपने हैं नहीं ।
लिख दिये बस काम अपना है यही ।
सब तरह के लोग है, संसार है ।
आप ले लेगा जिसे अधिकार है ।

इस छोटी-सी पुस्तिका में जितना कि सम्भव था, संक्षेप से दो चार दार्शनिक विचारों का भी निर्देश किया गया है । उन विचारों में और अर्थ-प्रकाशन में भी त्रुटियों की सम्भावना है । आर्य विद्वान् इन त्रुटियों के लिये मुझे कदापि क्षमा न करें, और उनकी सूचिका से सूचित कर अनुगृहीत करें । भविष्य में उस विषय का पारस्परिक विचारपूर्वक संशोधन किया जा सकता है । अन्त में यही नम्र निवेदन है -

आप जानें ठीक है यह या अशुद्ध,
जो समझ में आ गया वह लिख दिया ।

—मुक्तिराम उपाध्याय

ओ३म्

सन्ध्या विधि

सन्ध्या ब्रह्म यज्ञ है। सन्ध्या शब्द का अर्थ है, ध्यान का उत्तम साधन। ध्यान ब्रह्म का ही किया जाता है। इसलिये सन्ध्या का भावार्थ हो जाता है, ब्रह्म की प्राप्ति का उत्तम साधन। ब्रह्म जैसे सर्वोत्तम तत्त्व की प्राप्ति के लिये ध्यान आरम्भ करने से पहिले मनुष्य को अपने सब साधनों को पवित्र कर लेना चाहिए। बाह्य साधनों अर्थात् शरीर के सब अंगो की शुद्धि का साधन जल है। और अन्दर के मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि की शुद्धि का साधन है राग द्वेष आदि का त्याग।

प्रातःकाल सूर्य के उदय से पहिले ही शौच, दन्तधावन और स्नान कर, एकान्त में उत्तम आसन पर बैठ अङ्गों पर जल प्रोक्षण कर, गायत्री मंत्र से शिखा बांध कर तीन प्राणायाम करे।

जल का प्रोक्षण, आलस्य दूर करने के लिये है, यह आलस्य न हो तो इसकी आवश्यकता नहीं। बाल बिखरे हों तो शिखा बांधे, यदि ठीक हों तो इसकी भी आवश्यकता नहीं। तीन प्राणायाम प्राण शुद्धि के लिए हैं प्राणशुद्धि मन आदि की शुद्धि के लिये है। आगे आचमन अङ्गस्पर्श और मार्जन का विधान है।

ऊपर लिखे प्राणशुद्धि के साधन प्राणायाम की विधि ऋषि के ही शब्दों में निम्नलिखित है।

वायु को बल से बाहर निकाल यथाशक्ति बाहर ही रोक दें। फिर शनैः-शनैः ग्रहण कर के कुछ चिर भीतर ही रोक के बाहर निकाल दें और वहाँ भी कुछ रोकें। इस प्रकार कम से कम तीन बार करें। वायु को अन्दर से बाहर फेंकने और बाहर से अन्दर ले जाने की विधि नासिका के द्वारा पूरी करनी चाहिये।

इस प्राणायाम के अनन्तर सन्ध्या के लक्ष्य को ध्यान में लाने के लिये आचमन का विधान है। यद्यपि इस मन्त्र से आचमन किया जाता है, और इसका आधिदैविक अर्थ जल के ही भाव को प्रकट करने के लिये किया जा सकता है, परन्तु ऋषि ने यहाँ इसके आध्यात्मिक अर्थ को ही प्रकट किया है। उनके इस अर्थ से आरम्भ में ही सन्ध्या का लक्ष्य ईश्वर, मनुष्य की भावना में प्रविष्ट हो जाता है। इस मन्त्र का महर्षि का किया हुआ अर्थ ही हम आगे उद्धृत किये देते हैं।

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभि स्त्रवन्तु नः ।

यजुः अ० ३६ मं-१२

(देवीः आपः) सब का प्रकाश, सबको, आनन्द देनेवाला और सर्वव्यापक ईश्वर, (अभिष्टये) मनोवांछित आनन्द के लिये (पीतये) पूर्ण आनन्द के लिये (नः) हमको (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो अर्थात् हमारा कल्याण करे । (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्त्रवन्तु) सर्वथा सब ओर से वृष्टि करे । इस मन्त्र को पढ़कर ऋषि ने तीन आचमनों का विधान किया है । और आचमन के विषय में यह भी लिख दिया है कि जल न हो तो न करे । परन्तु मन्त्र के पाठ का निषेध नहीं किया कि मन्त्र पाठ से सन्ध्या का लक्ष्य सामने आता है । उसी लक्ष्य को सामने लाने के भाव को प्रकट करने के लिये महर्षि ने यहाँ प्रमाण रूप मे अथर्व के यत्र-लोकांश्च इस मंत्र को उद्धृत किया है ।

सन्ध्या का लक्ष्य ब्रह्म सामने आ गया । अब उसकी प्राप्ति के लिये अष्टांग योग के आरम्भिक दो अंग हैं, यम और नियम । उन्हीं का निर्देश यहां सन्ध्या विधि में, इन्द्रिय स्पर्श और मार्जन मन्त्रों में किया गया है । इन दोनों ही विधियों में ईश्वर की प्रार्थना द्वारा विभिन्न इन्द्रियों में शक्ति के संचार का उपदेश महर्षि ने किया है ।

अब इन्द्रिय स्पर्श के मन्त्र लिखते है ।

ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः । ओं चक्षुः चक्षुः । ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम् । ओं नाभिः । ओं हृदयम् । ओं कण्ठः । ओं शिरः । ओं बाहुभ्यां यशोबलम् । ओं करतलकरपृष्ठे ।

भावार्थ –

ईश्वर की कृपा से हमारी वाणी, नेत्र, श्रोत्र, जननशक्ति, हृदय, कण्ठ, शिर भुजाओं से प्राप्त होने वाले हमारे यश और बल, हमारे हाथ की हथेली और हाथ की पीठ, शक्ति प्राप्त कर उचित उपयोग के देनेवाले हों ।

अब ईश्वर की प्रार्थना करते हुए मार्जन के मन्त्रों का उल्लेख करते हैं ।

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये । ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयो ः ।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ।

भावार्थ –

ओं ब्रह्म का निज नाम है । (भूः) प्राणों के प्राण, (भुवः) दुःखों को दूर करने वाले । (स्वः) आनन्ददाता (महः) सब से महान्, (जनः) सब के जनक

(तपः) दुष्टों को संताप देनेवाले (सत्यं) सत्यस्वरूप (खम्) आकाश की तरह व्यापक ब्रह्म हमारे शिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पैर, शिर और सब अङ्गों को पवित्र करें।

ऋषि के इन अंग-स्पर्श और मार्जन मन्त्रों में ही यम, नियम और आसन की ध्वनि है। "बाहुभ्यां यशोबलम्" में अहिंसा की, "वाक् वाक्" में सत्य की, "करतल कर-पृष्ठे और हृदयम्" में अस्तेय और अपरिग्रह की, "चक्षुः चक्षुः श्रोत्रम् श्रोत्रम् और नाभि" में ब्रह्मचर्य की, इस प्रकार इन मन्त्रों में इन पाँचों यमों की ध्वनि स्पष्ट है। क्योंकि वे ही भुजाएँ यश और बल का संग्रह करनेवाली हो सकती हैं जो अहिंसक हों, प्राणिमात्र का कल्याण करने वाली हों। वाणी वह ही पवित्र कहलाने का अधिकार रखती है जो सत्य का प्रकाश करे। वह ही हृदय उत्तम अनुभव करने वाला है जो किसी की वस्तु को अपनाने की, और आवश्यकता से अधिक संग्रह की बात न सोचे। और ऐसे ही कार्य में संलग्न हाथ पवित्र कहला सकते हैं। नेत्र, श्रोत्र और जनन इन्द्रिय का दमन ही ब्रह्मचर्य को जन्म दे सकता है।

नियमों की ध्वनि भी इन्हीं मंत्रों से निकलती है।

इन सारे ही मन्त्रों में आये हुए अङ्गों की पवित्रता शौच है, अपने कर्मानुसार मिले हुए भोग में प्रसन्नता अनुभव करनेवाला हृदय ही, और ऐसा व्यवहार करने वाले हाथ ही सन्तोषी हृदय और सन्तोषी हाथ कहला सकते हैं। मन्त्रों में आये हुए सब अङ्गों का संयम करते हुए द्वन्द्वों का सहन ही तप है। वह ही कण्ठ और वह ही वाणी पवित्र है जो वेदों और आर्ष-ग्रन्थों के स्वाध्याय में संलग्न हो। अपने इन सब अङ्गों से किये जाने वाले कर्मों का ईश्वर के अर्पण कर देना ही ईश्वर-प्रणिधान है। इस प्रकार ये मन्त्र पाँचों यमों और पांचों नियमों का प्रकाश कर रहे हैं।

"तपः पुनातु पादयोः" इस मन्त्र में आसन का विधान है। आसन का सारा कार्यक्रम पैरों से ही सम्बन्ध रखता है। जब मनुष्य ध्यान के लिए एक आसन पर बैठता है तो कुछ काल के बाद पैर दुखने लग जाते हैं। इस लिए आराम से बहुत देर तक एक आसन पर बैठे रहना कठिन हो जाता है। फिर कष्ट सहते हुए भी आसन के काल को थोड़ा-थोड़ा करके बढ़ाना पड़ता है। इसलिए तप का सम्बन्ध यहां पैरों से जोड़ा गया है।

इस प्रकार यहाँ तक की सन्ध्या विधि में यम नियम और आसन इन तीन अङ्गों का अनुष्ठान आ गया। अब आगे चौथे अङ्ग प्राणायाम का व्याख्यान करते हैं।

प्राणायाम

प्राण के निरोध का नाम प्राणायाम है। शरीर में प्रविष्ट होकर कार्य करने वाले वायु को प्राण कहते हैं। जो वायु हम नासिका या मुख से अन्दर लेते है, या बाहर निकालते हैं केवल उसी का नाम प्राण नहीं है। प्राण-वहाँ नाड़ियाँ शरीर के प्रत्येक अङ्ग में यहाँ तक कि त्वचा के भी प्रत्येक अणु में फैली हुई हैं। इन सब नाड़ियों में प्रतिक्षण प्राणदेव परिक्रमा करते रहते हैं। प्राणवाहक नाड़ियाँ रक्तवाहक नाड़ियों की भाँति बीच में से सच्छिद्र नहीं हैं, ठोस हैं। इनके आभ्यन्तर तथा बाहर के अवयवों से होता हुआ प्राण इस प्रकार गति करता है जैसे कि "ब्लाटिंग पेपर" में पानी। इन्हीं को प्राणसूत्र कहते हैं। गति और ज्ञान दोनों प्रकार के कार्यों का सम्पादन प्राण और दैवमन इन सूत्रों द्वारा करते हैं। गतिसूत्र और ज्ञानसूत्र भिन्न-भिन्न होते हैं। इन में से कुछ धूसर और कुछ श्वेत रंग के होते हैं। शरीर के सब अङ्गों में फैले हुए ये जिन प्रधान अङ्गों से निकलते हैं, उनके नाम हैं—मस्तिष्क सुषुम्णा और पिङ्गल माला। मस्तिष्क से निकले हुए ये सूत्र नेत्र, श्रवण, नासिका, जिह्वा, फुफ्फुस और हृदय की ओर जाते हैं। ये सब सूत्र प्रायः मस्तिष्क की तली से निकलते हैं।

सुषुम्णा का प्रारम्भ ग्रीवा के पिछले भाग और कपाल के संयोग स्थान पर मस्तिष्क के महाछिद्र से होता है। इससे ग्रीवा की अन्तिम कसेरूका का छिद्र मिला रहता है।

कसेरुकाएँ ग्रीवा में सात, पृष्ठ में बारह और कटिप्रदेश में पांच होती है। इस प्रकार सङ्कलन से सब कसेरुकाओं की संख्या चौबीस होती है। प्रत्येक कसेरुका के बीच में छिद्र होता है। ये कसेरुकाएँ एक दूसरी के ऊपर टिकी रहती हैं। इन सब के छिद्र एक दूसरी के छिद्र के सामने रहते हैं, और इस प्रकार इन सब छिद्रों को मिलाकर एक नाली बन जाती है। मस्तिष्क के छिद्र से आरम्भ हो कर इसी नाली में से होती हुई सुषुम्णा नीचे की ओर जाती है। इसका नीचे का अन्तिम भाग, प्रथम और दूसरे कटि कसेरुका के बीच के स्थान में होता है। यह स्थान लगभग नाभि के सामने पिछली ओर होता है। इसके नीचे सुषुम्णा नहीं होती। यहाँ से सुषुम्णा से एक सूक्ष्म तन्तु निकलता है और वह किसी विशेष मसाले के द्वारा गुदास्थि से जुड़ा रहता है। सुषुम्णा का अन्तिम भाग उस में से निकले हुए प्राण सूत्रों के सञ्चय द्वारा अश्व-पुच्छ के समान बन जाता है। ग्रीवा से लेकर नीचे के भाग तक इसमें से ३१ इकत्तीस सूत्र निकलते हुए कुछ तो कसेरूकाओं में से होकर विभिन्न अङ्गों में फैल जाते हैं, और कुछ नीचे वाले, कसेरुका नली में से इकट्ठे हो नीचे की ओर जाते हैं। आगे चल कर ये भी एक-एक करके क्रम से अङ्गों में विभक्त हो जाते

हैं, और इसी लिए सुषुम्णा का अन्तिम भाग अश्व-पुच्छ के सदृश बन जाता है। सुषुम्णा से निकले हुए सूत्रों की भी आगे चल कर अनेक शाखाएँ हो जाती है।

कुण्डलिनी पेट में कौनसा अङ्ग है और उसके जग जाने पर सुषुम्णा का मुख खुल जाने से क्या तात्पर्य है, इसमें मतभेद है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि "कुण्डलिनी जागरण" नामक क्रिया के बाद सुषुम्णा मार्ग से प्राण बिना आयास के तीव्रता से मस्तिष्क की ओर चला जाता है, और इससे प्रथम ऐसा नहीं होता था। बहुत सम्भव है कि सुषुम्णा का नीचे का अश्व-पुच्छ भाग श्लेष्मा आदि मलों से आक्रान्त रहता हो, और वही प्राण की ऊर्ध्वगति का प्रतिबन्धक हो। विशेष क्रियाओं द्वारा संशोधन हो जाने के बाद प्राण-तन्तु खुल जाते हों, प्राणों का प्रतिबन्ध हट जाता हो और इसी का नाम "कुण्डलिनी-जागरण" या सुषुम्णा मुखविकास पड़ गया हो। अथवा सुषुम्णा से निकल कर गुदास्थि के साथ जुड़ा हुआ सूक्ष्म तन्तु ही कुण्डलिनी हो। और उसके वहाँ से छूटकर सुषुम्णा द्वारा ऊपर चले जाने पर प्राण का मार्ग खुल जाता हो। ये भाव हमने शरीर विज्ञानियों के लिये प्रकट किये हैं। कुण्डलिनी का प्रसिद्ध स्वरूप आगे लिखेंगे।

ग्रीवा, छाती और उदर में पृष्ठ-वंश के दोनों ओर डोरी के समान दो नाड़ियाँ पड़ी रहती हैं। इन नाड़ियों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर गांठों जैसे उभार होते हैं। ये दोनों ओर की नाड़ियाँ गुदास्थि के सामने जाकर आपस में मिल जाती हैं। यदि इन नाड़ियों को सूत्र और बीच की गांठों को मनके मान लें तो यह एक माला बन जाती है। भारतवर्ष में माला पहनने की कल्पना, सम्भवतः प्राचीन काल के शरीर-विज्ञान-शास्त्रियों ने इस अन्दर के दृश्य को बाहर दिखलाने के लिए ही की हो। इस कल्पना में युक्ति भी सहायता देती है। इन दो नाड़ियों में प्रत्येक में पचीस-पचीस गाँठें होती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण-पिङ्गल माला में पचास गांठें हुई। इस दृश्य के आधार पर तो बाहर की माला में भी पचास ही दाने होने चाहिये। परन्तु पिङ्गल-माला की ये गांठें आपस में जुड़ी हुई नहीं हैं। इन सबके बीच में अन्तर है। इस अन्तर को दिखलाने के लिए ही प्रत्येक मोटे दाने के साथ एक पतला दाना डालना पड़ा होगा।

इस प्रकार अन्दर की माला के दाने की संख्या सौ हो जाती है। आजकल माला के दाने १०८ होते हैं। पुराने कर्मकाण्डियों से पूछने पर पता चलता है कि दाने तो वस्तुतः एक सौ ही होते हैं। आठ दाने अधिक इसलिए डाल दिए जाते हैं कि जप करते हुए शीघ्रता में यदि बिना मन्त्रोच्चारण किये कोई दाना हाथ से निकल जाये, तो वह कमी इन दानों से पूरी होती रहे। पिङ्गल-

माला का आरम्भ नासिका के समीप से होता है। नासिका के ऊपर शिर है। सम्भवतः इसी दृश्य को दिखलाने के लिये माला की दोनों लड़ियों के ऊपर शिर की जगह सुमेरू नामक मोटा दाना रखा गया हो। यह माला जप का साधन कैसे बन गई ? भाव के भूल जाने पर। जैसे कि आजकल यज्ञोपवीत तालियों के बांधने का साधन बन गया है।

पिङ्गल-माला की ग्रन्थियों का रंग लाली और भूरेपन को लिये हुए होता है। इसी रंग का नाम पिङ्गल है और इसीलिये इस का नाम पिङ्गल-माला पड़ गया है। अभ्यासी लोग इसी माला के बाएँ भाग को इडा और दाएँ भाग को पिङ्गला नाम से पुकारते हैं और इनमें से एक नाड़ी द्वारा प्राण को ऊपर ले जाने और एक से बाहर निकालने का उपदेश करते हैं। वस्तुतः इन नाड़ियों द्वारा श्वास के आदान प्रदान का कार्य नहीं होता। यह सब कार्य आरम्भिक अवस्था में वात-प्रणालियों द्वारा सम्पादित होता है। इन प्रणालियों का वर्णन आगे किया जायेगा।

पिङ्गल-माला में से भी प्राण-सूत्र निकलते हैं। वे सब शरीर के विभिन्न अंगों में फैले रहते हैं। सुषुम्णा से निकले हुए भी बहुत से प्राण सूत्र पिङ्गलमाला की गोलिकाओं में से होकर मस्तिष्क और शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में जाते हैं। सुषुम्णा और पिङ्गल-माला से निकले हुए प्राण-सूत्रों का भी मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध होता है। अतः प्रत्येक अंग में होनेवाली घटना का तार मस्तिष्क के पास तत्काल पहुँच जाता है। यह सब क्रिया प्राण अन्तःकरण की सहायता से करता है।

अन्तःकरण शरीर के सारे आकाश में और प्राण-सूत्रों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है। अन्तःकरण की उत्पत्ति अन्न से और प्राण की उत्पत्ति जल से मानी गई है।

यथा —

अन्नमयं हि सोम्य मन: आपोमय: प्राणस्तेजोमयो वागिति''

छान्दोग्य, अ. ६। खं ५। मं ४॥

''हे सोम्य ! मन की उत्पत्ति अन्न से होती है प्राण की जल से और तेज से वाणी की उत्पत्ति होती है। हमारे भोजन में पृथ्वी जल और तेज तीनों के ही भाग रहते हैं। यहाँ पार्थिव भाग को अन्न कहा है। अतः यह मानना पड़ता है कि हमारे भोजन के पार्थिव सूक्ष्मांश से मन, जल के सूक्ष्म अंश से प्राण और तेज के सूक्ष्म अंश से वाणी को उत्पन्न करने वाला तत्त्व बनता है। हमारे भोजन का सूक्ष्मांश रक्त के रूप में परिणत हो जाता है। रक्त फुफ्फुसों के द्वारा शुद्ध होकर हृदय में और फिर धमनियों में होकर शरीर में फैल जाता

है। उस रक्त के अन्दर ही सम्भवतः मनः, प्राण और वाणी के मूल तत्त्व मिले रहते हैं। जिस प्रकार धमनियों में से लसीका प्रणालियों में रक्त का अंश, लसीका नामक रस टपक जाता है इसी प्रकार मन और प्राण के मौलिक तत्त्व भी धमनियों में से ही प्राण-सूत्रों में विश्लिष्ट होकर चले जाते हैं। धमनियों में से ही निकलकर वाणी के तैजस मूलतत्त्व, शरीर के आकाश में फैल जाते हैं। मन प्राण और वाणी तीनों का ही प्रधान केन्द्र मस्तिष्क है। एक मंत्र की व्याख्या करते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य ने इस विषय का स्पष्टीकरण किया है। मन्त्र इस प्रकार है—

**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्-यशोनिहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥**

"एक कटोरा है जिसका मुख नीचे को और तली ऊपर को है। उसमें विश्वरूप यश रक्खा हुआ है। उसके किनारों पर सात ऋषि हैं, और आठवीं वाणी ब्रह्म का संवेदन या ज्ञान करने वाली रहती है।" ऋषि याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर, एष ह्यर्वाग्बिलश्चचमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपम्प्राणानेतदाह। 'तस्यात् ऋषयः सप्त तीर' इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह, वागष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते।"

(वृहदारण्यक व्र० २ अ० २ म० ३)

जो नीचे को मुख और ऊपर को तली वाला कटोरा है, वह शिर है। उस में जो विश्व-रूप यश रक्खा हुआ है वह प्राण है। उसके किनारे जो सात ऋषि रहते हैं, वे भी सात प्राण ही हैं। ब्रह्म का संवेदन करने वाली आठवीं वाणी है।

ऋषि याज्ञवल्क्य की इस व्याख्या में शिर, प्राणों का केन्द्रस्थान स्पष्ट शब्दों में कहा है। ज्ञानेन्द्रियों को भी प्राण नाम से उपनिषदों में कहा गया है। सात प्राणों में छः ज्ञानेन्द्रियां और एक मुख्य प्राण है। दो कान, दो आँखें, एक नासिका और एक रसना ये छः प्राण ज्ञानेन्द्रिय नामक हैं और आठवीं वाणी है।

इन सब ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञानतन्तु या प्राणसूत्र मस्तिष्क से निकलते हैं। इसलिये इनका सञ्चालक प्रधान केन्द्र मस्तिष्क में ही है। जो केन्द्र है वही मुख्य प्राण है।

प्राण की तरह अन्तःकरण भी सब शरीर में व्याप्त होने के कारण शरीर में सर्वत्र फैले हुए सूत्रों में सञ्चार करता है। यह और प्राण दोनों साथ मिलकर ही ज्ञान और क्रिया के साधन हैं। अन्तःकरण का भी प्रधानकेन्द्र मस्तिष्क में ही है उसे देव कहते हैं। ज्ञान-तन्तुओं का सञ्चालन उसी केन्द्र द्वारा होता है। (आत्मा का मुख्य निवास स्थान मस्तिष्क है वह सामान्य अवस्था में नीचे के हृदय में और विशेष अवस्था में मस्तिष्क में रहता है और उसके पास ही उसके सदा साथ रहनेवाला अन्तःकरण तत्त्व है। मन, बुद्धि, चित्त और धृति उसी अन्तःकरण की चार अवस्थायें हैं। मन के भी दो भेद हैं—दैव और यक्ष। इन में से दैव का ज्ञानेन्द्रियों पर और यक्ष का कर्मेन्द्रियों पर अधिकार है। इसकी निश्चय रूप वृत्ति का नाम बुद्धि, अनिर्णीतावस्था का नाम मन और स्मरणात्मक वृत्ति का नाम चित्त है। धृति की ही अभिमानाकार वृत्ति का नाम अहङ्कार है। किसी विषय का निर्णय करने के लिए मस्तिष्क पर ही विशेष बल देना पड़ता है। अतः अन्तःकरण का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क में ही मानना पड़ता है। शरीर के सब सूत्रों में फैले हुए अन्तःकरण तत्त्व का इसीके साथ सम्बन्ध है।

अन्तःकरण का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क में मानने के और भी कई कारण हैं, उनमें से एक यह है कि वह आत्मा का सन्निहित साधन है। आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को सञ्चालित करता है। सब ज्ञानेन्द्रियों का सन्निवेश मस्तिष्क में है, इसलिये उनके सञ्चालक दैव अन्तःकरण और आत्मा का भी सन्निवेश मस्तिष्क में ही होना चाहिये।

दूसरा कारण यह है कि आत्मा का प्रधान स्थान मस्तिष्क है, इसलिये उसके अन्तरङ्ग साधन अन्तःकरण का भी प्रधान स्थान मस्तिष्क में ही होना चाहिये। मस्तिष्क में आत्मा की स्थिति ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी मानी है और अथर्ववेद ने भी इसका निर्देश किया है यथा —

''कतमः स आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः''

(बृहदारण्यक अ०ब्रा०३ मं० ७)

''प्रश्न किया गया है कि आत्मा कौन है ? उत्तर दिया गया कि जो प्राणों के बीच में विज्ञानमय और हृदय में विद्यमान ज्योतिःस्वरूप है।''

हम प्रथम लिख आये है कि उपनिषदों में प्राण शब्द से ज्ञानेन्द्रियों को भी कहा जाता है। यहाँ प्राणों के बीच में आत्मा का निर्देश, उसकी मस्तिष्क में स्थिति को स्पष्ट करता है। यहाँ यह भी कहा गया है कि प्रकाशरूप आत्मा हृदय में है इससे यह प्रतीत होता है कि जिस हृदय में आत्मा और अन्तःकरण रहते हैं, वह हृदय भी मस्तिष्क में ही है। छान्दोग्य का निम्न प्रकरण मस्तिष्क में हृदय की सत्ता को स्पष्ट करता है।

''तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्चदेवसुषयः । स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यः । तत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत, तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद । अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चद्रमाः तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत्, श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेद। अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निः । तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत्, ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद । अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यः तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत, कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद । अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत, ओजस्वी महस्वान् भवति य एवं वेद । ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः ।''

(छान्दोग्य, अ० ३ खं० १३)

इस हृदय के पाँच देव द्वार हैं । इसका पूर्व देव द्वार चक्षु नामक प्राण है, वह आदित्य हैं । उसे तेज और अन्नाद्य जानकर उपासना करनी चाहिये । वह तेजस्वी और अन्नभोक्ता बनता है जो ऐसा जानता है । इसका दक्षिण देव द्वार व्यान है । वह श्रोत्र है । उसे चन्द्रमा भी कह सकते हैं । उसकी श्री और यश नाम से उपासना करनी चाहिये । जो ऐसा जानता है श्रीमान् और यशस्वी होता है । इसका पश्चिम द्वार अपान या वाक् है, उसे अग्नि भी कहते हैं । उसकी ब्रह्मवर्चस्व और अन्नाद्य नाम से उपासना करनी चाहिये । जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म तेज से सम्पन्न और अन्नभोक्ता होता है । इसका उत्तर द्वार समान या मन है । वह मेघ है । उसकी कीर्ति और व्युष्टि नाम से उपासना करनी चाहिये । जो ऐसा जानता है, वह कीर्तिमान् और व्युष्टिमान् होता है । इसके ऊर्ध्वद्वार उदान या वायु है । उसे आकाश भी कह सकते हैं । उसकी ओज और महः नाम से उपासना करनी चाहिये । जो ऐसा जानता है ओज और महत्त्व को प्राप्त करता है । ये ऊपर कहे पाँच ब्रह्म पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं ।''

छान्दोग्य के इस प्रकरण में हृदय के पाँच देव द्वार या द्वारपाल बतलाए हैं और वे पांच हैं — चक्षुः, श्रोत्र, वाणी, मन और वायु अर्थात् प्राण । इनमें से चक्षु श्रोत और वाणी का तो स्थान शिर निश्चित ही है । अब ये जिस हृदय के देवद्वार हैं, अथवा जिस हृदय रूपी स्वर्ग के द्वार हैं, वह हृदय मस्तिष्क के अतिरिक्त और किसी स्थान पर माना ही नहीं जा सकता । योगी को ब्रह्मानन्द भी मस्तिष्क में जाकर ही मिलता है । इसीलिये इन पांचों को ब्रह्मपुरुष कहा गया है । स्वर्ग का अर्थ है आनन्द की ओर जानेवाला । और आनन्द की ओर

जानेवाला आत्मा इसी हृदय में है, इसलिये इसे स्वर्ग-लोक कहा है। दो देवद्वार मन और प्राण हैं। यहाँ मन का अर्थ अन्तःकरण है और उसके तीन भाग, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार मस्तिष्क में ही हैं। हृदय का मस्तिष्क में निर्णय हो जाने पर उसके इन दोनों द्वारपालों की सत्ता भी मस्तिष्क में निश्चित हो जाती है। इसलिए छान्दोग्य के इस एक ही प्रसङ्ग से इतनी बातें निर्णित हो जाती हैं :—१. हृदय की मस्तिष्क में सत्ता। २. आत्मा का मस्तिष्क के हृदय में मुख्य निवास। ३. अन्तःकरण और प्राण का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क। आत्मा की मस्तिष्क में सत्ता का बोधक अथर्व का प्रसिद्ध मंत्र यह है—

"अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।"

(अथर्व कां० १० सू० २ मं० ३१)

आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली एक नगरी अयोध्या है। उसमें एक हिरण्य-स्वर्ण की भांति प्रकाशमान कोश स्वर्ग है और वह प्रकाश से चारों ओर से घिरा हुआ है।

यह शरीर का वर्णन है। शरीर में आठ चक्र हैं। वे मूलाधार से लेकर सहस्रार तक हैं। कोई अभ्यासी इनकी संख्या सात और कोई आठ भी बतलाते हैं। इसे देवताओं की नगरी अयोध्या — पराजित न होनेवाली कहा है। इसमें—स्वर्ग - आनन्द की ओर जानेवाला आत्मा प्रकाश से घिरा हुआ है। प्रकाश का भान योगियों को मस्तिष्क में ही होता है, इसलिये आत्मा की सत्ता मस्तिष्क में ही माननी चाहिये।

इसी मंत्र का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है। अष्टाचक्रा (अष्टाभिश्चक्रं यस्याः) जिस का चक्र — खोपड़ी का गोला आठ हड्डियों से बना है। (हमारा शिर २२ हड्डियों से बना है। उसकी खोपड़ी जो गोलाकार है जिसमें मस्तिष्क रहता है, आठ हड्डियों से बनी है। शेष चौदह हड्डियों से मुख की आकृति बनी है।) दो कान, दो नाक, दो आँखें, एक मुख, एक मस्तिष्क का सुषुम्णा के सामने का महाछिद्र और एक त्रिकुटि के ऊपर का अन्तःछिद्र, ये नौ इस शरीर रूपी अयोध्या नगरी में द्वार हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ही इस में देवता हैं। इस प्रकार यह मंत्र शिर का वर्णन करता है। इस अर्थ के अनुसार भी स्वर्ग या आत्मा का मुख्य निवास स्थान मस्तिष्क ही निश्चित होता है।

यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय में मन को हृत्प्रतिष्ठ (हृदय में रहनेवाला) कहा है। यहाँ भी हृदय शब्द से मस्तिष्क वाला हृदय ही ग्रहण करना चाहिए। छाती में फुफ्फुसों के बीच में भी हृदय है। वह विशेष रूप से रक्ताशय है। रक्त के बिना शरीर का कोई कार्य नहीं चल सकता। शरीर की सारी अस्थियों,

प्राण-सूत्रों, मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं और सारे ही अवयवों को भोजन इसीके द्वारा मिलता है। भोजन से प्राण और मन की उत्पत्ति भी इसीके द्वारा होती है। इस का सञ्चालन भी मस्तिष्क में बैठा हुआ आत्मा, अन्तःकरण और प्राण के द्वारा करता है। इस यन्त्र के बिगड़ते ही प्राण, अन्तःकरण और आत्मा, शक्तिविहीन हो जाते हैं। यह यंत्र शरीर के अङ्गों को इस प्रकार का भोजन देता है, जिसके बिना उनका जीवन एक क्षण के लिये भी असम्भव हो जाता है। इसलिए इसकी स्थिति से अन्तःकरण का कार्य चलता है, अन्यथा नहीं। अतः इस हृदय की दृष्टि से भी पूर्वोक्त कारण से उसे ''हत्प्रतिष्ठ'' कहते हैं।

छाती में रक्ताशय के दाईं ओर समीप ही एक हृदय यन्त्र और भी माना जाता है। वस्तुतः छातीवाला हृदय यह ही प्रतीत होता है। इसमें कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता मन काम करता है जिसे कि यक्ष कहते हैं। कर्मेन्द्रियों का संचालन और संकल्प विकल्प इसी के काम हैं।

''शतञ्चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमति। विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।''

(एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्द्धा में जाकर निकली है। उससे ऊपर की ओर जाकर आत्मा अमर होता है। शेष सब नाड़ियाँ उस उत्क्रान्ति में सहायक होती हैं।)

इस उपनिषद् वाक्य में आत्मा का एक नाड़ी के द्वारा छाती के हृदय से मस्तिष्क के हृदय में जाना लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि आत्मा सङ्कल्प विकल्प के समय छाती के हृदय में यक्ष मन की सहायता करता हुआ यहाँ भी निवास करता है। परन्तु जब यह अन्तःकरण के शेष तीन भागों बुद्धि, चित्त और अहङ्कार नामक यंत्रों से काम लेता है, तथा ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता दैव मन की सहायता करता है तब वह उसी एक नाड़ी के द्वारा मस्तिष्क के हृदय में चला जाता है। इस प्रकार इसका यह आना जाना लगा रहता है। परन्तु जिसे नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगति या उत्क्रान्ति कहते हैं यह आत्मा की ऐसी उत्क्रान्ति है जिसके बाद वह फिर नीचे नहीं आता और अमर हो जाता है।

एक हृदय से दूसरे हृदय में जाना आना उसकी कार्यवश स्वाभाविक साधारण गति है। परन्तु यह अमरत्व की ओर उत्क्रांति साधारण गति नहीं है। इस उत्क्रांति को साधक ने विशेष प्रयत्न से सम्पन्न किया है।

यम नियम और आसन इन तीन योगाङ्गों के सिद्ध कर लेने पर जब साधक, प्राणायाम की सिद्धि आरम्भ करता है, तब उसका उन्नत अवस्था में पहुँचा हुआ प्राणायाम भी उत्क्रांति में सहायक हो जाता है। पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ हम उस प्राणायाम का एक प्रकार लिखते हैं।

प्राणायाम प्राण के बल पर और ध्यान के बल पर दो प्रकार से सिद्ध किया जाता है। प्राण के बल पर सम्पन्न होनेवाला प्राण का नियंत्रण जिस प्रकार किया जाता है उसकी कुछ विधियां शास्त्रीय आधार पर प्राणायाम के प्रकरण में लिखी गई हैं।

ध्यान के बल पर प्राण का नियंत्रण उत्क्रान्ति में किस प्रकार सहायक है उसकी विधि हम संक्षेप में आगे लिखते हैं।

आप मन को अपने मस्तक के मध्य भाग में भ्रुवों के मध्य में एकाग्र करने का यत्न कीजिये। एकाग्र करने का प्रकार यह है कि मन की वृत्ति उसी स्थान के आकार को धारण करे। मन में जो आकार बदल-बदल कर आते रहते हैं, उन सबको हटाकर उनके स्थान में भृकुटि का मध्यभाग ही दिखाई देने लग जावे। अभी आपने एक स्थान पर मन को एकाग्र करने का यत्न किया है। इसी का नाम ध्यान है। कुछ दिनों के परिश्रम के बाद आप देखेंगे कि जिस स्थान पर आपने मन को एकाग्र करना आरम्भ किया था उस स्थान पर अब किसी शक्ति का दबाव पड़ रहा है। कुछ दिन इस अभ्यास को और अधिक बढ़ाने पर आप देखेंगे कि उस शक्ति का दबाव अब इतना बढ़ गया है कि उसे सहन करना कठिन हो गया है। यह शक्ति प्राण की है जो कि ध्यान के द्वारा यहाँ सञ्चित की गई है।

इस अवस्था में पहुँच जाने पर अब आप ध्यान को यहाँ से हटा दीजिये और अपनी शिखा के अग्रभाग में ब्रह्मरन्ध्र में ले जाइये। कुछ दिन वहाँ एकाग्र करने पर आप देखेंगे कि वह ही प्राण का दबाव मस्तक से उठकर ध्यान के स्थान में शिखा के अग्र भाग में आ गया है। ऐसा आप स्वयं अनुभव करेंगे। जब यहाँ भी पूरा दबाव पड़ने लगे तो फिर आप ध्यान को शिर के पीछे के महाछिद्र में सुषुम्णा के मूल भाग में ले जावें। वहाँ भी प्राण के आघात की प्रतीति होने पर ध्यान को क्रम से सुषुम्णा के विभिन्न भागों पर केन्द्रित करते हुए सुषुम्णा के अन्तिम भाग तक पहुँचकर इस ध्यान की क्रिया को फिर ब्रह्मरन्ध्र में ही ले आयें। परन्तु अब आप उस ध्यान के प्रकार में परिवर्तन कर दें।

अब जब दूसरी बार ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करने से यहाँ प्राण का प्रभाव पर्याप्त बढ़ा हुआ प्रतीत होने लगे तो आप अपने ध्यान के स्वरूप को बदल दें। अब ऐसा अनुभव करना आरम्भ करें कि सुषुम्णा के मार्ग से कोई शक्ति नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा में से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र की ओर बढ़ी आ रही है। ध्यान की यह प्रक्रिया बहुत दिनों तक चालू रखनी पड़ेगी जब तक कि सुषुम्णा का मार्ग खोलकर वेग से आती हुई यह शक्ति ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर स्थिर

न हो जावेगी। इस स्थिति के प्राप्त हो जाने पर आत्मा की स्थायी उत्क्रान्ति का अवसर आ जावेगा, और फिर उसे सङ्कल्प विकल्प के समाप्त हो जाने के कारण नीचे के हृदय में जाने की आवश्यकता न रह जावेगी। यह ध्यान रहे कि ध्यान की इस प्रक्रिया को आरम्भ करने से पहिले जैसा कि हम पहिले लिख आये हैं यम-नियम और आसन सिद्ध हो जाने चाहियें। यमों और नियमों को सिद्ध करते करते अन्तःकरण के विक्षेप की बहुत-सी समस्यायें सुलझ जावेंगी। इनके सुलझ जाने से ध्यान के एकाग्र करने में सुगमता होगी। आसन के सिद्ध हुए बिना इच्छानुसार ध्यान में कई घण्टे बैठा रहना कठिन होगा। इस लिये ध्यान आरम्भ करने से पहले यमनियम और आसन का सिद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस विषय का विशेष विवेचन मनोविज्ञान तथा शिवसङ्कल्प नामक पुस्तक में पढ़िये।

आत्मा अणु है ऋषि दयानन्द भी आत्मा को अणु ही मानते थे ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश में प्रश्न उठाया है—

''प्रश्न - जीव शरीर में भिन्न विभु है या परिच्छिन्न ?

उत्तर – परिच्छिन्न।''

यहाँ ऋषि ने जीव को परिच्छिन्न कहा है। परिच्छिन्न कहने से ही उसे व्यापक तो माना नहीं जा सकता। अब दो ही परिमाण रह जाते हैं—मध्यम परिमाण अर्थात् शरीर जितना बड़ा अथवा अणु। शरीर जितना परिमाण भी जीव का ऋषि मान नहीं सकते। क्योंकि जैनियों का खण्डन करते हुए आत्मा के इस परिमाण का ऋषि ने खण्डन किया है। अब अणु परिमाण ही शेष रह जाता है, बस आत्मा का यही परिमाण है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

(श्वेताश्वतर, अ. ५, मं० ९)

इस उपनिषत् मंत्र में भी जीव का अणु-परिमाण ही कहा है। इसका भाव यह है—बाल की अगली नोंक के सौ टुकड़े किये जावें, और उनमें से भी एक टुकड़े के सौ-सौ टुकड़े किये जावें, इन भागों में से एक भाग का परिमाण जीव का परिमाण। और जीव अनन्त है अविनाशी है।

''अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः''

(अन्तक भगवान् ने अंगुष्ठ जितने बड़े आत्मा को बलपूर्वक शरीर से निकाल लिया) इस वाक्य में अंगुष्ठमात्र परिमाण केवल आत्मा का नहीं, हृदय सहित आत्मा का कहा है। इस प्रकार आत्मा का परिमाण अणु ही है।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर में व्यापक नहीं है—शरीर के एक भाग मस्तिष्क में रहता है, और उसका परिमाण अणु है। उसके समीप ही मस्तिष्क में अन्तःकरण रहता है और अन्तःकरण के समीप ही मस्तिष्क में प्राणकेन्द्र है। इन्हीं सब शक्तियां के चारों ओर शिर में ज्ञानेन्द्रियों का सन्निवेश है।

मस्तिष्क में निवास करता हुआ आत्मा अन्तःकरण को प्रेरित करता है और अन्तःकरण प्राण, प्राण-सूत्रों और ज्ञान-सूत्रों के द्वारा शरीर के सब कार्यों का निर्वाह करता है। प्राण-सूत्रों में विस्तृत अन्तःकरण तत्त्वको केन्द्रस्थानीय अन्तःकरण खींचकर अपने स्थान में एकत्रित कर सकता है और इसी प्रकार केन्द्रस्थानीय प्राण शरीर के सब प्राणों को अपने स्थान में आकर्षित कर सकता है।

प्राण भी प्राण-सूत्रों द्वारा शरीर के विभिन्न अङ्गों में पहुँच कर कार्य सम्पादन करता है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार के कार्य अन्तःकरण और प्राण के द्वारा ही सम्पादित होते हैं। अन्तःकरण के बिना प्राण और प्राण के बिना अन्तःकरण कोई कार्य नहीं कर सकता। इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलतः अन्तःकरण प्राणों के रोकने से रुक जावेगा और उसके रुक जाने से शरीर के ज्ञान और क्रिया दोनों ही प्रकार के कार्य बन्द हो जावेंगे। इस सारे विक्षेप के हट जाने पर आत्मा अपने स्वरूप का और उसके अभ्यन्तर विद्यमान परमात्मा की शक्तियों का अनुभव कर सकेगा। प्राण-निरोध का योग दर्शन में भी यही फल बतलाया है। लिखा है—

''ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्''

प्राणायाम से प्रकाश पर आया हुआ पर्दा फट जाता है, आत्मा की ज्योति प्रकट हो जाती है।

यह सब ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि सारे शरीर में विस्तृत सूत्र-जाल में व्यापक प्राणों का निरोध हो कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर ऋषि पतञ्जलि इस प्रकार देते हैं :—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

आसन के जीत लेने पर प्राण-निरोध हो जाता है, और वह है श्वास और प्रश्वास की गति का निरोध। वायु नासिका के छिद्रों द्वारा कण्ठ में जाता है, कण्ठ से उतरकर स्वरयंत्र में, स्वर यंत्र से टेंटुवे में, टेंटुवे से दाईं बाईं वायु-प्रणालियों में, और वायु-प्रणालियों से दाएँ और बाएँ फुफ्फुसों में चला जाता है।

ग्रीवा में सामने टटोलेने से जो लम्बी कठिन वस्तु प्रतीत होती है, वह

टेंटुआ है। उसी के चौड़े मोटे भाग को स्वर कहते हैं। टेंटुए की लम्बाई साढ़े चार ईंच होती है। इसका नीचे का भाग छाती की हड्डी के पिछली ओर होता है। छाती की चौथी या पांचवीं कसेरुका के पास जाकर यह दो भागों में विभक्त हो जाता है। इन शाखाओं का नाम ही वायु-प्रणाली है। इनमें से एक नाली दाएँ और दूसरी बाएँ फुफ्फुस में चली जाती है। फुफ्फुस में जाकर टेटुए की ये शाखायें वृक्ष की शाखाओं की तरह अनेक शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं। वात-प्रणाली की शाखाओं द्वारा गया हुआ वायु फुफ्फुसों की छोटी-छोटी कोठरियों के अन्दर भर जाता है। वायु के दबाव से फुफ्फुस फूलते हैं और छाती फैलती है। इसी क्रिया का नाम श्वास है। फिर नासिका से वायु बाहर निकलता है, फुफ्फुस सिकुड़ते हैं, छाती पूर्व दिशा को प्राप्त हो जाती है, इसी का नाम प्रश्वास है। इसी श्वास और प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम प्राणायाम है।

युवा मनुष्य एक मिनट में १६-१७ श्वास लिया करता है। इनके विच्छेद या निरोध से तात्पर्य इनके कम करने से है। यदि मनुष्य एक मिनट में १६ श्वास लेता है तो वह उन्हें क्रम से घटाकर एक मिनट में एक, दो मिनट में एक और इसी क्रम से जहाँ तक शक्ति हो कम कर सकता है। इस गति - विच्छेद का सम्पादन भी अन्धाधुन्ध नहीं करना चाहिये। इसकी भी प्रक्रिया है। उसी का बोध कराने के लिए ऋषि पतञ्जलि लिखते हैं—

ब्रह्माभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

(यो० द० साधन पा० सू०५)

देश काल और संख्या में परिमित, दीर्घता सूक्ष्मता से परीक्षित, बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति तीन प्रकार के प्राणायाम हैं। शिक्षा के आरम्भ काल में बालक को अक्षर सिखानेवाला गुरु एक अक्षर के कई टुकड़े कर लेखन-कला का अभ्यास करता है। इसी प्रकार ऋषि ने भी यहाँ प्राणायाम को तीन भागों में विभक्त कर शिक्षा देना आरम्भ किया है। उनमें से प्रथम भाग बाह्य-वृत्ति है।

बाह्य-वृत्ति प्राणायाम में फुफ्फुसों से भरे हुए सब श्वास को नासिका द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। फिर इसी अवस्था में प्राण को बाहर ही रोके हुये कुछ काल निश्चल बैठा रहना पड़ता है। मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्र द्वारा यह भावना की जाती है कि मैं शरीर के सारे प्राण को मस्तिष्क की ओर खींच रहा हूँ। ठोड़ी के कण्ठ के साथ लगा दिया जाता है। हृदय को स्तब्ध करने का यत्न किया जाता है। नाभि और नाभि के नीचे के भाग को पीछे को खींच लिया जाता है। पैरों से एक निश्चल और सीधे आसन पर बैठा रहना होता है।

विभिन्न अङ्गों की यह उपर्युक्त स्थिति सब प्राणायामों में इसी.प्रकार रखनी पड़ती है । अङ्गों की इस क्रिया का मूल प्राणायाम मन्त्रों में मिलता है । इसे आगे चलकर स्पष्ट किया जावेगा । इस सारी क्रिया को अभ्यास के लिए इसी प्रकार कई बार किया जाता है । जब न ठहरा जा सके और श्वास लेने की प्रबल प्रेरणा हो तो श्वास को नासिका से सहसा अन्दर भरके फिर तत्काल बाहर निकाल दिया जाता है और प्रथम अवस्था में ही ठहर जाना होता है ।

आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम में नासिका द्वारा श्वास को फुफ्फुसों में सहसा भर देना चाहिये, और फिर श्वास को अन्दर रोके हुए सीधे निश्चल आसन पर पुर्वोक्त अङ्गों को उसी अवस्था में रखकर जितनी देर तक ठहरा जा सके ठहर जाना चाहिये और जब न रहा जा सके तो प्राण को नासिका द्वारा सहसा निकालकर उसी अवस्था में फिर भर लेना चाहिये और पूर्वोक्त विधि से निश्चल बैठ जाना चाहिये । यह प्रक्रिया कई बार करनी चाहिये ।

तीसरा प्राणायाम स्तम्भवृत्ति है । इस में न श्वास को बाहर निकालने की आवश्यकता है और न बाहर से अन्दर लेने की । जिस अवस्था में श्वास विद्यमान है, उसी अवस्था में उसे रोक दिया जाता है । जब न रहा जा सके तो साधारम रीति से श्वास लेकर फिर उसे उसी अवस्था में रोक दिया जाता है । शेष सब प्रक्रिया पूर्वोक्त ही है । इस प्रक्रिया में श्वास और प्रश्वास दोनों ही का निरोध हो जाता है । इसके लिये व्यास जी ने बड़ा अनुकूल दृष्टान्त दिया है । उन्होंने लिखा है—''जैसे तपे हुए पत्थर पर डाला हुआ जल चारों ओर से हटकर एक स्थान पर सञ्चित हो जाता है, इसी प्रकार इस प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास दोनों का युगपत् निरोध हो जाता है ।''

अब साथ ही साथ बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति तीनों ही निरोधों के देश, काल और संख्या का परिमापण भी करना चाहिये । यह परिमापण तीनों में एक ही प्रकार का है । यद्यपि इसके विवेचन में विशेष विस्तार है, परन्तु यहाँ सर्व साधारण के लिए उसका स्थूल-सा रूप प्रकट किया जाता है ।

''निरोध के समय प्राण कितनी दूर तक फैला'' इस विषय का निरीक्षण, देश का परिमापण है । प्राण जितनी दूर तक फैलता है, शरीर के उतने भाग में चीटियाँ सी चलती प्रतीत होने लगती हैं । यही प्राण के विस्तार की पहचान है । निरोध कितने क्षण तक रहा, यह उसके काल का परिमापण है । और उस प्राणायाम की कितनी आवृत्तियाँ कर सके, यह उसकी संख्या का परिमापणं है ।

इसके अतिरिक्त निरोध की दीर्घता और सूक्ष्मता का भी अवलोकन आवश्यक है । देश, काल और संख्या से परिदृष्ट किसी निरोध के देश, काल और संख्या के बढ़ाने का प्रयत्न दूसरे दिन ही आरम्भ नहीं कर देना चाहिये ।

उन्हें उसी अवस्था में अभ्यस्त करने के लिए कुछ दिन अवश्य लगाने चाहिये। इससे बढ़े हुए काल की लम्बाई का नाम ही दीर्घता है। फिर उसका इतना अभ्यास हो जाना चाहिये कि अभ्यासी को पता भी न लगे कि मैं प्राणायाम कर रहा हूँ। किसी प्रकार के भी कष्ट का अनुभव प्राणायाम करते हुए न हो। और श्वास के लेने और निकालने की गति अतिसूक्ष्म हो जावे, इस सूक्ष्मता और अनुभव के अभाव को यहाँ सूक्ष्म कहा है। इन तीन प्राणायामों के अतिरिक्त–

''बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः''

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही के, देश, काल, संख्या आदि से परिमित विषय का भली-भाँति आलोचना करते हुए, उस भूमि को छोड़कर, उससे अग्रिम भूमि को लक्ष्य में रख क्रम में श्वास और प्रश्वास दोनों का निरोध ''बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी'' प्राणायाम है। यह पूर्ण प्राणायाम है।

यद्यपि स्तम्भवृत्ति में भी श्वास और प्रश्वास दोनों का ही निरोध करना पड़ता है परन्तु इसमें और चतुर्थ प्राणायाम में बड़ा अन्तर है। स्तम्भवृत्ति में श्वास और प्रश्वास के विषय की आलोचना किये बिना ही उन्हें रोक दिया गया था, परन्तु यहाँ श्वास और प्रश्वास का विषय–देश काल और संख्या की आलोचना करते हुए, उन दोनों को युगपत् नहीं, क्रम से रोकना पड़ता है।

इस प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है। प्रथम श्वास को अन्दर ले जाते हुए यह देखना चाहिये कि उसे फुफ्फुसों में भरने के लिए कितने क्षण व्यय किये गये हैं। यह श्वास के काल का दर्शन है। श्वास को अन्दर भरते समय कितनी बार ठहर कर हम उसे पूरा भर सके, इस विषय का दर्शन श्वास की संख्या का आलोचन है। श्वास के फुफ्फुसों में भर लेने पर प्राण-सूत्रों में प्राण के विस्तार का दर्शन श्वास के देश की आलोचना है। देश की परीक्षा उसी प्रकार की जाती है जैसे कि हम बाह्यवृत्ति में लिख आये हैं।

प्रश्वास की भी शेष दो आलोचनायें तो श्वास की आलोचना-विधि के अनुसार ही हैं। हाँ देश की आलोचना में भेद है। यहाँ बाहर के देश का पता लगाना पड़ता है कि नासिका से निकलते हुए प्रश्वास का प्रभाव बाहर के प्रदेश पर कहाँ तक पड़ा। यह परीक्षा इसलिये की जाती है कि प्राण जितना शनैः शनैः और सूक्ष्म करके निकाला जावेगा, उतना ही उसका प्रभाव निकट देश तक होगा और प्रभाव जितना अधिक निकट देश तक पड़ेगा उतना ही लाभदायक है।

इस प्रकार विषय की आलोचना करते हुए श्वास को अन्दर भरने के बाद उसका निरोध कर दिया जाता है और प्राण को बाहर निकालते समय फिर उसके विषय की आलोचना उसी प्रकार करनी पड़ती है। और फिर इस प्रश्वास को

भी बाहर ही रोक दिया जाता है । इस प्रकार इस प्रक्रिया को कई बार करना पड़ता है । अब पाठक समझ गये होंगे कि इस चतुर्थ प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास का निरोध, इनके विषय की आलोचना करते हुए क्रम से करना पड़ता है और स्तम्भवृत्ति में विषय की आलोचना किये बिना ही युगपत् निरोध किया जाता है ।

प्राणायाम के शारीरिक और आत्मिक दोनों ही लाभ हैं । हमारे भोजन से जो रक्त बनता है, उसमें ऐसे कितने ही अणु होते हैं जो शरीर को हानि पहुँचाने वाले हैं । वह रक्त, शिराओं द्वारा फुफ्फुसों में जाता है और वहाँ जाकर साफ होता है । फुफ्फुस उन विषैले अणुओं को अपने पास रख लेता है और शुद्ध रक्त को हृदय में भेज देता है । श्वास के द्वारा जो वायु फुफ्फुसों में जाता है, वह प्रश्वास के द्वारा उन विषैले अणुओं को साथ लेकर बाहर निकल जाता है । प्राणायाम करते हुए श्वास फुफ्फुसों में बलपूर्वक भरा जाता है और कुछ देर तक रखा जाता है । यह गम्भीर श्वास फुफ्फुस के प्रत्येक कोने में फैल जाता है और उसके किसी भी कोने में विषैले अणुओं को रहने नहीं देता । साधारण श्वास-प्रश्वास सारे फुफ्फुसों में व्याप्त होकर उसे शुद्ध नहीं कर सकते । सम्पूर्ण फुफ्फुसों के शुद्ध हो जाने पर शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में शरीर में जाता है । शरीर की पुष्टि शुद्ध रक्त के ही आधार पर है, अतः प्राणायाम शरीर को पुष्ट करता है ।

प्राणायाम के द्वारा श्वास फुफ्फुसों में भर दिया जाता है । इसी अवसर में कुछ बचा हुआ श्वास-टेंटुवे में से निकलकर अन्न प्रणाली के द्वारा उदर में भी चला जाता है । वह वायु अन्तड़ियों में पहुँचकर मल को पूर्णतया बाहर निकाल देता है । इस प्रकार प्राणायाम भली-भाँति नियमपूर्वक करने वाले को 'मलबन्ध' का रोग नहीं होता । यह वायु अधिक मात्रा में पहुँचने पर अपान को भी निकाल बाहर करता है और फिर कुछ काल के बाद, आसन और मल के, पेट में देर तक न ठहरने के कारण प्राणायाम के अभ्यासी पुरुष के अपान वायु में दुर्गन्धि नहीं रहती । शरीर के अनेक रोग मलबन्ध से होते हैं । यही कारण है कि प्राणायाम का अभ्यासी बहुत नीरोग रहता है । इस प्रकार शरीर पुष्टि की दृष्टि से प्राणायाम के अनेक लाभ हैं ।

प्राणायाम के आत्मिक उन्नति की दृष्टि से भी अनेक लाभ हैं । हम पहले निवेदन कर आये हैं कि प्राण और अन्तःकरण प्राणसूत्रों के द्वारा शरीर के सब अवयवों में फैले हुए हैं । इन दोनों के प्रधान तत्त्व मस्तिष्क में हैं, और मस्तिष्क ही इनका प्रधान केन्द्र है । प्राण के निरोध का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर नाभि के नीचे का अपान ऊपर को खिचना आरम्भ होता है । इससे आगे क्या होता

है यह हम निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकते। क्योंकि आजकल के शरीर विज्ञान वेत्ताओं ने नाभि के नीचे किसी कुण्डलिनी नामक अङ्ग का वर्णन नहीं किया। परन्तु बहुत सम्भव है कि अभ्यासी लोग कुण्डलिनी का जैसा स्वरूप बतलाते हैं, छेदन क्रिया के बाद वह नष्ट भ्रष्ट ही हो जाती हो। अतः यहाँ पर हम इसके सम्बन्ध में अभ्यासी लोगों का अनुभव ही लिख देते हैं।

कुण्डलिनी एक बाल के शतांश भाग के समान सूक्ष्म रक्त वर्ण का नाभि के नीचे के भाग में दो तीन लपेट दिए हुए, एक तन्तु के समान अङ्ग है। उसका मुख सुषुम्णा के मुख में है। अपान की ऊर्ध्वगति होने पर इसके लपेट उसकी ठोकर लगने से खुल जाते हैं और यह अङ्ग सुषुम्णा के छिद्र द्वारा ऊपर मस्तिष्क में चला जाता है। मार्ग में जो रूकावट के स्थान हैं उन्हें चक्र कहा गया है। उनके खुल जाने पर प्राण सीधा मस्तिष्क में सुषुम्णा मार्ग से चला जाता है। विभिन्न चक्रों में प्राण की सत्ता के काल में विभिन्न प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं, और आकृतियाँ दिखाई देती हैं, मार्ग खुल जाने से प्रकाश प्रकट हो जाता है और चित्त की वृत्तियाँ रुक जाती हैं। वृत्तियों के रुक जाने पर सम्पूर्ण शरीर में व्यापक प्राण-सूत्रों से प्राण भी मस्तिष्क की ओर गति करना आरम्भ कर देते हैं, और प्राण निरोध हो जाता है।

इस प्रकार प्राण प्रकाश का आवरण नष्ट करने में सहायक होता है और आत्मिक उन्नति का साधन है।

अथर्ववेद के ऊपर लिखे "अष्टाचक्रा नवद्वारा" मन्त्र में शरीर के आठ चक्रों का वर्णन आया है। ये आठ चक्र हमारे शरीर में जिन-जिन स्थानों में है उनका ब्यौरा निम्नलिखित है। ये सब चक्र मूर्धा से आरम्भ होकर मेरुदण्ड में से होते हुए गुदा के समीप तक हैं।

चक्र		**स्थान**
१ मूलाधार	-	गुदा के समीप
२ स्वाधिष्ठान	-	लिङ्ग के सामने
३ मणिपुर	-	नाभि के सामने मेरुदण्ड में
४ अनाहत	-	हृदय के सामने मेरुदण्ड में
५ विशुद्ध	-	कण्ठ के सामने मेरुदण्ड में
६ आज्ञा	-	भ्रूमध्य में
७ सहस्रार	-	मूर्धा में

इस प्रकार प्रसिद्ध चक्र ये सात माने जाते हैं, कुछ योगी विशुद्ध चक्र के ऊपर और आज्ञाचक्र के नीचे एक और चक्र भी मानते हैं। इस चक्र का नाम ललना चक्र है। ध्यान अथवा प्राण के बल से जब ये चक्र एक-एक करके

खुलने आरम्भ हो जाते हैं तो इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रकाश आदि तत्त्व अभ्यासी को दृष्टिगोचर होते हैं । चक्रों की शुद्धि शरीर के नाड़ीजाल के विशुद्ध होने पर ही होती है और तभी ये खुलते हैं । नाड़ीजाल की शुद्धि का प्रकार है सात्विक खानपान, ध्यान और प्राणायाम ।

प्राणायाम मन्त्र

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः । ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् ।

इन मन्त्रों के ईश्वर परक भाव

(ओं) परमात्मा का सर्वगुणबोधक नाम है । (भूः) प्राण-जीवन दाता भगवान् । (भुवः) अपान दुःखविनाशक भगवान् । (स्वः) व्यान गति दाता भगवान् । (महः)पूज्य सबसे बड़ा भगवान् । (जनः) उत्पादक भगवान् । (तपः) पाप का फल देकर दुष्टों को तपानेवाले भगवान् । (सत्यम्) सर्वदा एकरस अविनाशी भगवान् ।

इन मंत्रों के अध्यात्म अंगपरक भाव

(भूः) प्राण-प्राणनिरोध का प्रधान केन्द्र शिर । (भुवः) अपान-अपनीत किया हुआ अपने विषय से हटाया हुआ, प्राणनिरोध का साधन चक्षुः । (स्वः) व्यान—(अपने अन्दर से निकलने वाली वाणी का) व्यान—विशेष रूप से भक्षण करनेवाला—उसके निरोध द्वारा प्राण निरोध की सहायता करनेवाला, कण्ठ । (महः) पूज्य—स्तब्ध किया हुआ प्राण निरोध में सहायक हृदय । (जनः) पीछे को आकर्षित किया हुआ प्राण निरोध में सहायक नाभि । (तपः) क्लेश सहन कर आसन के लिये स्थिर किये हुये पैर । (सत्यम्) प्राण निरोध का यथार्थ मुख्य साधन शिर ।

भावार्थ

प्राणायाम में सफलता प्राप्त करने के लिये सबसे प्रथम भगवान् का चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है । इसके लिये प्राणायाम काल में पूर्वोक्त मन्त्रों का उच्चारण करते हुए भगवान् का स्मरण करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त जिन अंगों का प्रथम मार्जन किया है उनमें भी इन मन्त्रों द्वारा विशेष प्रकार की क्रियायें आवश्यक हैं । शिर के ज्ञानकेन्द्र में ये भाव भरने चाहियें कि मैं सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत प्राण-तन्तुओं में व्यापक प्राण का मस्तिष्क में आकर्षण कर रहा हूँ । नेत्रों की ग्राहकशक्ति को बाह्यप्रकाश से हटाकर अन्तर्मुख कर देना चाहिए । ठोडी को कण्ठ के साथ लगा देना चाहिये, और किसी भी विचार के लिये प्रकट हुए शब्दजाल का कण्ठ में ही अन्त कर देना

चाहिए । हृदय को यथासम्भव स्तब्ध करने का यत्न किया जावे जिससे कि वह संकल्प विकल्प से शून्य हो जावे । नाभिचक्र और उसके नीचे के भाग को पीछे को खींचा जावे जिससे कि शक्ति के जागरण में सहायता मिले । कम से कम एक घण्टे तक शरीर को सीधा तथा निश्चल रखते हुए एक आसन से बैठने का अभ्यास किया जावे । ऐसा करने पर भगवान् की दया से और अपने पुरुषार्थ से उपासक प्राण के निरोध में सफल होकर आध्यात्मिक उन्नति का लाभ करेगा ।

यम, नियम, आसन और प्राणायाम इन योग के चारों अङ्गों का निरूपण सन्ध्या विधि में हो चुका । अब आगे चलकर पाठक अघमर्षण के व्याख्यान में योग के एक अंग प्रत्याहार की झलक देखेंगे ।

अघमर्षण

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।१।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य भिषतो वशी ।।२।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ।।३।।

(ऋ० अ०८ अ०८ व०४८ मं० १०९)

शब्दार्थ

अन्तःकरण में, (ऋतञ्च) ज्ञान और (सत्यञ्च) सत्य भी (अभीद्धात्) सर्वतः समृद्ध (तपसः) तप से (अध्यजायत) उत्पन्न होते हैं । (ततः रात्र्यजायत) उसके अनन्तर दानशक्ति का प्रादुर्भाव होता है । (ततः) इसके बाद (समुद्रः) हृदयाकाश (अर्णवः) शान्ति जल का भण्डार, बनता है । (समुद्रादर्णवात्) उस शान्ति के भण्डार हृदयाकाश से, हृदय (अधिसंवत्सरः) संसार के सब प्राणियों को अपने अन्दर बसानेवाला बनता है । (वशी) अपनी इन्द्रियों पर अधिकार रखनेवाला (धाता) अपनी अध्यात्मशक्तियों का पोषण करनेवाला, जीवात्मा अहोरात्राणि) अपने दिन और रातों को (विश्वस्य) सब जगत् के (मिषतः) हित के लिये (विदधत्) लगाता हुआ, अपने (सूर्याचन्द्रमसौ) नेत्र, वाणी और श्रोत्र को (दिवञ्च पृथिवीञ्च) मस्तिष्क और पैरों को तथा (अन्तरिक्षम्) शरीर के मध्यभाग को (अथो) और (स्वः) अपने आत्मानन्द को (यथापूर्वम्) प्राथमिक जीवनशक्ति दशा में जिस रूप में थे उसी रूप में (अकल्पयत्) बना देता है ।

विशेष वक्तव्य

रात्रि शब्द की उत्पत्ति रा धातु से हुई है और रा का अर्थ देना है, इसलिये यहाँ रात्रि का अर्थ दान की शक्ति किया गया है । निशा काल का नाम भी रात्रि इसलिये पड़ा है कि वह दिन में थके हुये प्राणियों को विश्राम देती है । समुद्र शब्द वैदिक भाषा में आकाश के लिये भी व्यवहार में आता है । इसलिये यहाँ आध्यात्मिकभाव में इसका हृदयाकाश अर्थ किया गया है । अधिसंवत्सर पद अधि और सम् उपसर्ग साथ जोड़कर वस धातु से बनाया गया है । अधि का अर्थ अन्दर, सम् का अर्थ भली प्रकार और वस का अर्थ निवास करना है । इसलिये इस शब्द का अर्थ ''अपने अन्दर भलीभाँति बसानेवाला किया गया है । छान्दोग्य उपनिषद् में सूर्य और चन्द्रमा शब्द आध्यात्मिक अर्थों में नेत्र और श्रोत्र के लिए आये हैं । वाणी के लिये वहाँ अग्नि शब्द का प्रयोग किया गया है । अग्नि भी तैजस है और सूर्य भी । इसलिये हमने इस मंत्र में पठित सूर्य शब्द के तन्त्रवृत्ति से नेत्र और वाणी दोनों अर्थ कर दिये हैं । चन्द्रमा शब्द का श्रोत्र अर्थ भी छान्दोग्य के अनुसार कर दिया है । छान्दोग्य के वाक्य नीचे पढ़िये—

स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणः, तच्चक्षुः स आदित्यः । अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः । अथ योस्य प्राङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निः ।

(छा० प्र० ३ खं० १२ मं० १-२-३)

वह जो इस हृदय का पूर्व देवद्वार है, वह चक्षु नामक प्राण है, उसे आदित्य भी कहते हैं और दक्षिण देव द्वार श्रोत्र नामक व्यान है, उसे चन्द्रमा भी कहते हैं और जो वाक् नामक पश्चिम देव द्वार अपान है उसे अग्नि भी कहते हैं ।

दिव्, पृथ्वी और अन्तरिक्ष पद के अर्थ यहाँ शिर, पैर और धड़ किये गए हैं । इन आध्यात्मिक अङ्गों के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध, यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय में मिलता है, यथा—

''नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिः ।''

(य०अ०२१ मं० १३)

अन्तरिक्ष नाभि-स्थानीय, दिव् शिरः स्थानीय और पृथिवी पाद-स्थानीय है। स्वरः शब्द सुख के लिये प्रयुक्त होता है, इसीलिये इसका यहाँ आत्मानन्द अर्थ है ।

भावार्थ

उपर्युक्त तीन मन्त्रों का विनियोग, अघमर्षण विधि में किया है। अघमर्षण का अर्थ पापों का प्रक्षालन करना है। इन मन्त्रों से पापों का मार्जन होता है, यह जानकर उपासक को सुतरां यह जानने की इच्छा होती है कि पापों का प्रक्षालन इन मंत्रों द्वारा किस प्रकार होता है। इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है, एक तो साधन के उल्लेख द्वारा, और दूसरा पाप नाश की प्रक्रिया के प्रदर्शन से। इन मन्त्रों में दोनों ही प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। पाप वासनाओं का उन्मूलन करने के लिये दो प्रकार के साधन काम में लाये जाते हैं। एक ईश्वर प्रणिधान और दूसरा तपश्चर्या। ईश्वर प्रणिधान द्वारा, प्रभु की शक्तियों का बार-बार चिन्तन कर उनके महत्त्व से आत्मा को प्रभावित करना पड़ता है। पापनाश के इसी साधन को उपासकों के हृदय में अङ्कित करने के लिए पूज्य महर्षि ने पञ्च-महायज्ञ विधि में इन मंत्रों की आधिदैविक व्याख्या की है। ईश्वर के रचित इस विशाल संसार को देखकर सहसा उपासक के हृदय में निम्न भावनाओं का उत्पन्न होना अनिवार्य है। "सृष्टि रचना की कल्पनातीत सामग्री को भगवान् ने, क्रीड़ा मात्र से बात की बात में अपने किसी प्रयोजन के बिना, जीवों के उपकारार्थ, अनन्त रूपों और नामों के आकार में विभक्त कर दिया। अहो ! भगवान् की शक्तियाँ अनन्त हैं। उसकी दया का भण्डार अपार है। मैं उसके एक पत्ते की भी रचना को समझने में असमर्थ हूँ। मैं तो उस प्रभु के सामने वैसा ही हूँ, जैसे सूर्य के सन्मुख खद्योत।" इन भावनाओं का बार-बार चिन्तन कर उपासक भगवान् के गुणों की ओर आकर्षित होता है और अपनी निर्बलताओं को दूर करने के लिए, उसका आश्रय लेने और उसकी शक्तियों से शक्तिशाली बनने का यत्न करता है। यह पापनाश के एक साधन ईश्वर प्रणिधान का लाभ है।

इसके अतिरिक्त पाप नाश का एक और भी साधन है। जिसके द्वारा आत्मा में वह तरङ्ग पैदा कर दी जाती है, जो अपनी थपेड़ों से पाप के बड़े-बड़े ढेरों को धक्का देती चली जाती है। और वह साधन है तप। तपश्चर्या के द्वारा मनुष्य किस क्रम से उन्नत होता चला जाता है, इसी प्रक्रिया का निर्देश इन मन्त्रों के आध्यात्मिक भावों में किया गया है। तप किसी एक ही कर्म का नाम नहीं है। तप शब्द तप धातु से बना है और इसका अर्थ "सन्ताप देना" है। तात्पर्य यह है कि शरीर की सब शक्तियों को उनके स्वच्छन्द प्रवाह से रोककर अन्तर्मुख करने के लिए मन और इन्द्रियों को विषय-वासना से हटाकर आत्म-चिन्तन में लगाने के लिये निरन्तर परिश्रम करना पड़ता है और अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं। इन क्लेशों को उदारतापूर्वक सहन करते हुए अपने

मार्ग में उत्साह से आगे बढ़ने की धारणा रखना ही तप है ।

तप मनुष्य को कुन्दन बना देता है । उसके मन, वाणी और कर्म तप की महिमा से एक ही भाव के अनुसारी हो जाते हैं । मन, वाणी और कर्म में एक ही भावना की छाप लगाना साधारण कार्य नहीं है । इसके लिये मनुष्य को निरन्तर परिश्रम करना पड़ता है । इस भावना का नाम ही सत्य है और इस सत्य की उत्पत्ति तप से होती है ।

विषय-वासना के जाल में फँसकर मनुष्य वस्तु के यथार्थ रूप को जानने में असमर्थ रहता है । राग द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रु उसे भूल-भुलैयां में डालकर, वस्तु के वास्तविक रूप को उसकी आँखों से ओझल कर देते हैं । वे उसके ऊपर, मैं और मेरेपन का मुलम्मा चढ़ाकर उसे और से और ही बना देते हैं। तपश्चर्या से यह भूल-भुलैयां दूर हो जाती है । अज्ञान का संहार और ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है । इस प्रकार सत्य के अतिरिक्त दूसरा एक और गुण ''ज्ञान'' भी तप से ही उत्पन्न होता है ।

सत्य और ज्ञान ही आत्मा की वास्तविक सम्पत्तियाँ हैं । जब तक उसके पास इनका भण्डार नहीं तब तक उसकी गठरिया खाली है । उसके अन्तःकरण के कोष में तब तक एक पैसा भी नहीं है । और जिसके अपने घर में एक फूटी कोड़ी भी नहीं वह दूसरे को देगा क्या । परन्तु सत्य और ज्ञान की उत्पत्ति के बाद आत्मा का कोष भरकर अक्षय हो जाता है और उसके महत्त्व को जानकर मनुष्य उसे दूसरों को बाँटने को उतावला हो जाता है । अब उसके अन्दर दान की शक्ति और अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है । इसी शक्ति का नाम रात्रि है—दानशक्ति है ।

इस शक्ति के उत्पन्न हो जाने पर उपासक दिल खोलकर देता है । अपने इस कर्त्तव्य का पालन करने पर उसे संतोष होता है । उसके हृदयसागर में शान्ति की गम्भीर तथा प्रशान्त तरङ्गें हिलोरे मारने लगती हैं । प्रबल से प्रबल संसार की ठोकर उसे अपने स्थान से विचलित नहीं कर सकती, क्रूर से क्रूर प्राणी के प्रतप्त आत्मा को भी उसके शान्ति जल की वर्षा से अपना स्वभाव छोड़ना पड़ता है । उसके प्रभाव की छाया में आकर विरोधी विरोध छोड़ देते हैं । इसी शान्ति के सतत् अभ्यास से उसके अन्तःकरण में विशाल अवकाश का प्रादुर्भाव होता है । यह अवकाश इतना विस्तृत होता है कि उसमें संसार के छोटे से लेकर बड़े तक सब प्राणियों का आसन बिछा होता है । सब प्राणियों के क्लेश और आनन्द की तरंगें उसके अन्तःकरण की तरङ्गों से टकराने लगती हैं और उनके क्लेश और आनन्द को अनुभव कर वह उन्हें अपना समझने के लिए विवश हो जाता है ।

''यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति,
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।''

(जो सब भूतों को अपनी आत्मा के अन्दर और अपनी आत्मा को सब भूतों के अन्दर देखता है वह प्रशंसनीय है । यह उपनिषद् का उपदेश आंखों के सामने अब नाचा करता है । उन सब प्राणियों के क्लेशों को दूर करने की अभिलाषा उसके हृदय में जागृत हो जाती है । यह ही हृदय का ''अधिसंवत्सर'' भाव है ।

इस भाव के जागृत हो जाने पर उपासक अपने दिन और रात्रि के सब काल का इन सब प्राणियों के हित के लिए अर्पण कर देता है । उसे अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वथा भूल जाता है । इस अवस्था में दूसरों के क्लेशों को दूर करना ही उसका अपना स्वार्थ होता है । इसका अपना कर्त्तव्य कुछ रह भी नहीं जाता, परन्तु फिर भी दूसरों की सहायता के लिये और भी प्रबल वेग से कर्म करता है । महात्मा व्यास जी ने भी गीता में महात्मा कृष्ण के शब्दों मे इसी भाव को प्रकट किया है । लिखा है–

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।

हे अर्जुन ! मेरे लिए तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह गया । कोई वस्तु प्राप्तव्य भी नहीं रही जिसकी प्राप्ति के लिये कर्म करूँ । परन्तु फिर भी कर्म करता ही हूँ ।

अपने सब समय को परोपकार में लगाता हुआ उपासक, अपने नेत्र, वाणी और श्रोत्र की सब चेष्टाओं को दूसरों के हित के लिए ही करता है । यह पैरों से दीन दुखियों और अज्ञानियों के उपकार को ध्यान में रखकर चलता है । मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं और बुद्धि से भी उन्हीं प्राणियों के हित का निर्णय करता है । मन से उन्हीं के श्रेय का चिन्तन करता है और भुजाओं के बल का उन्हीं के लिये प्रयोग करता है । यहां तक कि वह अपने सर्वस्व आत्मानन्द को भी अपने प्रिय दुःखी प्राणियों के लिये न्यौछावर करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है । व्यवहार की यह निराली झलक महात्मा बुद्ध और ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुषों के जीवन में चमकती हुई स्पष्ट दिखाई देती है । जो उपासक तपोमय जीवन को धारण कर इस क्रमिक उन्नति को ध्यान में रखते हुए अपनी जीवन यात्रा का आरम्भ करते हैं, वे अपनी आत्मा के अन्दर अघमर्षण का जीवित दृश्य देखते हैं ।

पाठकों ने पढ़ा कि अघमर्षण के अनुष्ठान में उपासक ने अपनी सब इन्द्रियों तथा अन्य आध्यात्मिक शक्तियों को स्वार्थ से सर्वथा हटाकर परार्थ में

आहुत कर दिया है। प्रत्याहार का इससे उज्ज्वल स्वरूप और क्या हो सकता है।

मनसा परिक्रमा के प्रकरण में पाठक प्रत्याहार से आगे के शेष तीन धारणा, ध्यान, और समाधि नाम के अङ्गों का व्यावहारिक निरूपण पढ़ेंगे। यहाँ आत्मा को अज्ञान अवस्था से उठाकर केवल और ब्रह्मनिष्ठ कर दिया गया है।

अघमर्षण की विधि समाप्त हो जाने के बाद उपासक ''शन्नो देवी आदि'' मन्त्र से फिर तीन आचमन कर गायत्र्यादिमन्त्रार्थों का मन से विचार कर प्रभु चिन्तन करता हुआ मनसा परिक्रमा विधि का आरम्भ करे।

मनसा परिक्रमा (ऋषि व्याख्या)

मनसा परिक्रमा के द्वारा भी पूज्य महर्षि ने मनुष्य को ईश्वर प्रणिधान की ओर आकर्षित करने का यत्न किया है। अघमर्षण द्वारा भगवान् की विचित्र रचना का महत्त्व उपासक के हृदय में बैठाया गया था और मनसा परिक्रमा मन्त्रों की ईश्वर परक व्याख्या के द्वारा ऋषि ने उपासक के हृदय में, भगवान् के प्रति कृतज्ञता के भाव पैदा करने का दूसरा उपाय प्रकट किया है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट किया है, कि भगवान् अपनी रचित सृष्टि के विभिन्न पदार्थों तथा प्राणियों द्वारा मनुष्य का पालन पोषण किस प्रकार करते हैं। भगवान् की इस निःस्वार्थ करुणा का गान सुनकर उपासक का हृदय गद्‌गद् हो जाता है। उस करुणामय दीनबन्धु की गोद में बैठने के लिए वह ललायित हो जाता है और प्रभु के समीप पहुंचने के लिए उपासना के क्षेत्र में लम्बी दौड़ लगाता है।

मैंने प्रथम निवेदन किया है कि ऋषि ने सन्ध्यामंत्रों की व्याख्या ईश्वरपरक की है। उनकी व्याख्या में प्रत्येक दिशा का अधिपति विभिन्न रूपों में भगवान् को ही बनाया गया है। रक्षिता भी सब दिशाओं में भिन्न-भिन्न रूपों से भगवान् ही है और इषु नाम से वे वस्तुएँ प्रकट की गई हैं जिनके द्वारा भगवान् प्राणियों की रक्षा करते हैं।

यद्यपि पञ्च महायज्ञ विधि में आर्य भाषा में ''तिरश्चिराजी'' और पृदाकु'' को ईश्वर का विशेषण नहीं बनाया गया, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा ऋषि कि लिखी हुई नहीं है। कारण यह है कि संस्कृत व्याख्या में प्राची दिशा में ईश्वर का विशेषण असित को बनाया गया है और उससे अगले मंत्रों में किसी रक्षिता की व्याख्या ही नहीं की। और जब कि संस्कृत में यह व्याख्या नहीं की गई तो उसके अनुवाद में भी वैसी ही प्रतिच्छाया होनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा है नहीं। इससे प्रतीत होता है कि अनुवाद किसी और ने किया है, और अनुवादक ने तिरश्चिराजी और पृदाकु शब्द के अर्थ अपनी ओर से किये हैं। ऋषि के उपक्रम के अनुसार पृदाकु और तिरश्चिराजी शब्द प्रथमान्त ही रहने

चाहिये, जैसा कि उन्होंने असित शब्द में किया है। परन्तु अनुवादक की व्याख्या के अनुसार उन्हें पञ्चम्यन्त मानना पड़ता है। विभिन्न दिशाओं में ऋषि के उपक्रम के अनुसार इन शब्दों के अर्थ निम्नलिखित होने चाहिये।

(प्राचीदिक्) पूर्व दिशा में (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और (असितः) बन्धनरहित परमात्मा अधिष्ठाता तथा रक्षक हैं। और (आदित्याः) प्राणशक्तियाँ या सूर्य की किरणें (इषवः) बाण या साधन हैं।

दक्षिण दिशा में (इन्द्रः) ऐश्वर्ययुक्त और (तिरश्चिराजी) सब कुटिल शक्यिो पर राज्य या शासन करनेवाला उन्हें अपनी शक्ति से दबानेवाला, परमेश्वर अधिष्ठाता और रक्षक है। (पितरः) पालक महापुरुष (इषवः) बाण या रक्षा के साधन हैं।

पश्चिम दिशा में (वरुणः) सर्वोत्तम और (पृदाकुः) भयङ्कर गर्जन करनेवाला दुष्टों को दण्ड की व्यवस्था देनेवाला, परमेश्वर अधिष्ठाता तथा रक्षक है और (अन्नम्) भोज्यपदार्थ (इषवः) बाण या रक्षा के साधन हैं।

उत्तर दिशा में (सोम) सब जगत् का उत्पादक और (स्वजः) अजन्मा, ईश्वर अधिष्ठाता और रक्षक है और (अशनिः) विद्युत् (इषवः) बाण या रक्षा के साधन हैं।

ध्रुव दिशा में (विष्णुः) व्यापक और (कल्माषग्रीवः) चित्र ग्रीवावाला परमेश्वर अधिपति तथा रक्षक हैं। यह विराट् जगत् भगवान् का शरीर है। द्युलोक शिर की ओर पृथिवी पैरों की जगह है। द्युलोक के नीचे का भाग अन्तरिक्ष है यह मानो भगवान् की ग्रीवा है। उसी के अन्दर शोभायमान अनेक प्रकार के रंग बिरंगे फल फूल और पत्ते मानो भगवान् की ग्रीवा को कल्माष या चित्र बना रहे हैं। (वीरुधः) बेल आदि वनस्पतियां (इषवः) बाण या रक्षा के साधन हैं।

ऊर्ध्व दिशा में (बृहस्पतिः) वाणी, वेद शास्त्र और आकाशादि बड़ी-बड़ी शक्तियों का स्वामी और (श्वित्रः) विशुद्ध परमात्मा अधिष्ठाता तथा रक्षक है। (वर्ष) और वृष्टि (इषवः) बाण या रक्षा का साधन है।

ऋषि की व्याख्या में भिन्न-भिन्न अधिपति और रक्षिता गुण कर्मानुसार भगवान् के ही नाम हैं और भिन्न-भिन्न दिशाओं के ''इषु'' विभिन्न अवस्थाओं में रक्षा के साधन हैं।

इन साधनों का भी अपनी-अपनी दिशा के साथ विशेष सम्बन्ध है। पूर्व दिशा में उदय होने के कारण आदित्य का इस दिशा के साथ विशेष सम्बन्ध है। दक्षिण दिशा के साथ पोषण और क्षीणता का सम्बन्ध है। दक्षिण दिशा

में जाकर सूर्य की शक्तियाँ पोषक तथा क्षीण हो जाती हैं। यद्यपि शक्तियाँ वैसी ही रहती हैं, परन्तु पृथिवी पर प्रभाव को ध्यान में रखकर इस विचार को जन्म दिया गया है। दक्षिण में सूर्यदेव शीत ऋतु में होते हैं, और इसी ऋतु में सूर्यदेव की किरणें क्षीणशक्ति, परन्तु मनुष्यों की शारीरिक शक्तियों का पोषण करनेवाली होती हैं। ठीक इसी प्रकार बड़ी आयु मे वानप्रस्थ आदि पितरों की शारीरिक शक्तियाँ निर्बल हो जाती हैं, परन्तु वे अपने विज्ञान और अनुभव के द्वारा जाति का पालन पोषण करती हैं। इसी भाव को ध्यान में रखकर दक्षिण दिशा के साथ पितरों का सम्बन्ध जोड़ा गया है। क्षीणता की दृष्टि से ही पितरों का चन्द्रमा के क्षयकाल कृष्णपक्ष के साथ सम्बन्ध है। पश्चिम का वायु चलने पर अन्न ठीक पकते हैं, इसी कारण अन्न को पश्चिम दिशा में दिखलाया गया है। उत्तर दिशा के साथ विद्युत् का विशेष सम्बन्ध वैज्ञानिक लोग मानते ही है। नीचे की दिशा के साथ बेल और वनस्पतियों का साक्षात् ही सम्बन्ध है। ऊपर की दिशा के साथ वर्षा का सम्बन्ध कृषक लोग भी जानते हैं।

इस प्रकार पूज्य महर्षि का व्याख्यान युक्तियुक्त तथा वैज्ञानिक है। ''भगवान् अपनी अनेक शक्तियों से, संसार के ही साधनों द्वारा संसार के प्राणियों का पोषण कैसी उत्तमता से कर रहे हैं।'' इस विषय का इस व्याख्या में भावपूर्ण मनोहर विवेचन है। न यहाँ सर्पो को नमस्कार है, और न कहीं असम्बद्धता की छाया दृष्टिगोचर होती है। इस सुन्दर व्याख्या के होते हुए और किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हम केवल ऋषि के निर्दिष्ट ईश्वरप्रणिधान द्वारा आत्मा की क्रमिक उन्नति का विभिन्न अवस्थाओं में क्रम दिखाने के, कुछ पंक्तियाँ कुछ सज्जनों की प्रेरणानुसार नीचे लिखने का यत्न करेंगे।

सामान्य वक्तव्य

मनसा परिक्रमा का अर्थ है ''मन के द्वारा परिक्रमा''। ऋषि के कार्यकाल से पूर्व भी लोग सन्ध्या काल में सूर्य की परिक्रमा किया करते थे। सूर्य के चारों ओर घूमना तो टेढ़ी खीर थी बेचारे एक ही स्थान पर खड़े-खड़े चारों ओर घूम लिया करते थे। लोगों की इस दयनीय दशा को देखकर ही सम्भवतः ''परिक्रमा'' के साथ ''मनसा'' शब्द जोड़ने की ऋषि को आवश्यकता प्रतीत हुई। ऐसा न करने पर बहुत सम्भव था कि कालान्तर में लोग, इन मंत्रों का उच्चारण करते हुए अपने मुख को ही छहों दिशाओं में घुमाकर, कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लिया करते। यद्यपि ऐसा अब भी सम्भव है, क्योंकि ब्रह्मयज्ञ का दूसरा नाम रखते हुए भी प्राचीन ऋषियों ने ''ध्यान'' न रखकर ''सन्ध्या''

रक्खा था। "सम्" शब्द ध्यान में सर्वथा एकाग्रता की विशेषता उत्पन्न कर देता है। परन्तु लाधवप्रिय जनता इस नित्य कर्म को पाँच सात मिटन में ही समाप्त कर लेती है। ब्रह्मयज्ञ का प्रत्येक अङ्ग मनुष्य की आत्मिक शक्ति के विकास का साधन है। इसलिये उनका अनुष्ठान एकान्त स्थान में एकाग्र होकर, यथासम्भव पर्याप्त समय देकर करना चाहिये। मनसा परिक्रमा भी ब्रह्मयज्ञ का एक ऐसा ही अङ्ग है। इसके अनुष्ठान में मन के समाधान की और भी अधिक आवश्यकता है। प्राणायाम अपनी शक्ति से मन को बलपूर्वक भी रोक लेता है। क्योंकि प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए प्राण को रोकने से मन और मन को रोकने से प्राण सुतरां रुक जाते हैं, परन्तु इस विधि में मनका ही सावधानता से समाधान करना पड़ता है। मनसा परिक्रमा मंत्रों के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ यदि मिश्रित करने हों, तब तो विभिन्न दिशाओं में कल्पित देवों और प्राणियों के चिन्तन द्वारा, उनके गुणों और व्यवहारों से आत्मोपयोगी लाभ उठाने के लिये, मन में विभिन्न दिशाओं की भावना करते हुए मनसा परिक्रमा करनी होगी। परन्तु हम इन मंत्रों के केवल आध्यात्मिक भाव पाठकों की सेवा में भेंट करना चाहते हैं। इस अवस्था में हमारे मनोदेव का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। बाहर की दिशाओं में घूमना तो दूर की बात है, अब तो वह शरीर के अभ्यन्तरीण आध्यात्मिक जगत् से एक इञ्च भी इधर-उधर नहीं जा सकता। फिर वह परिक्रमा किस प्रकार करेगा ? यह बात उसके लिये न नवीन है और न कठिन है। वह तो नित्य परिक्रमा करता है। शय्या पर लेट कर आँखों को बन्द कर लेने पर भी इसकी परिक्रमा समाप्त नहीं होती। यहाँ भी वह अपने चारों ओर बनी हुई संस्कारों की परिधि का ही चक्कर काटा करता है। परन्तु हम अब इससे अपने ढंग की परिक्रमा कराना चाहते हैं। हम तो मन को परिक्रमा नहीं कराना चाहते, मन के द्वारा परिक्रमा करना चाहते हैं, और यही महर्षि के "मनसा परिक्रमा" शब्द का स्वारसिक अर्थ है। इस परिक्रमा में मन स्वयं नहीं घूमेगा, अपितु मन के द्वारा छः मणकों की एक माला को घुमाया जावेगा। विशेषता यह होगी कि मनोदेव जिस मणके को एक बार हांथ से निकाल देंगे, वह दूसरी बार उसके हाथ में आने न पावेगा। यह परिक्रमा एक, और आरम्भ से अन्त तक एक ही होगी। माला के छः मणके विभिन्न छः दिशायें या अवस्थायें हैं। दिक् शब्द का अर्थ यहाँ अवस्था है। दिक् शब्द दिश धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है अतिसर्जन या त्याग। इन विभिन्न अवस्थाओं में मन अपनी अनेक प्रकार की वासनाओं का त्याग करता है, अतः इन अवस्थाओं को भी दिक् नाम दे दिया

गया है । एक अवस्था को त्यागकर दूसरी को ग्रहण करता हुआ मन, किन-किन रूपों को धारण करता है, यह विषय यहाँ अलङ्कारिक भाषा में प्रकट किया गया है । आत्मा की शक्तियों का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है, और परमात्मा की दिव्य शक्तियाँ उसे किस प्रकार की सहायता देती हैं, इस विषय का भी इन मंत्रों में मनोहर आलङ्कारिक वर्णन है ।

अधिपति शब्द का प्रयोग इन मंत्रों में उपासक आत्मा के लिये किया गया है । आत्मा आध्यात्मिक जगत् का सञ्चालक है । इसलिये उसे अधिपति कहना सर्वथा सङ्गत है । यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आत्मा वास्तविक अधिपति उपासक बनने पर ही बनता है । इससे प्रथम तो वह मन और इन्द्रियों के अधीन था — उनका दास था ।

अधिपति शब्द का उपासक अर्थ हमने अपनी ही कल्पना से नहीं किया, अथर्ववेद भी उपासक को अधिपति पदवी देता है ।

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ।

(अथर्व का. १२ सू. ६ मं. ४)

ब्रह्म ज्ञान द्वारा प्राप्तव्य है और ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला ब्राह्मण या उपासक अधिपति है । उपासक के लिये ब्राह्मण पद का प्रयोग योगदर्शन के कैवल्य पाद में उनतीसवें सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास जी ने भी किया है—

यदायं ब्राह्मणः प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदः ततोऽपि न किञ्चत्प्रार्थयते ।

जब यह उपासक विवेकख्याति से भी विरक्त हो जाता है, उससे भी कोई कामना नहीं करता ।

यहाँ ब्राह्मण पद का उपासक के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं लिया जा सकता । ऊपर के मन्त्र में भी ब्राह्मण पद उपासक के लिये ही स्वरस सङ्गत है और उसी का दूसरा पारिभाषिक नाम अधिपति है ।

रक्षिता शब्द का प्रयोग यहाँ मन के लिये किया गया है । यह शब्द ''रक्ष'' धातु से बना है इस धातु का अर्थ है ''रक्षा करना'' । रक्षण क्रिया का यदि विश्लेषण किया जावे तो उसमें से दो भाव निकल आते हैं । एक बाहर की शक्तियों को रोकना और दूसरा अभ्यन्तरीण पुष्टि का प्रबन्ध । उपासक का अन्तःकरण, उसके लिए दोनों ही प्रकार के कार्य करता है । वह उपासक को हानि पहुँचानेवाली बाह्य विषयों की प्रतिच्छाया रूप वासनाओं को रोकता भी है, और उपासक के अन्दर विद्यमान भगवान् की ज्ञानशक्ति द्वारा उनके ज्ञान का विकास कर उसे समृद्ध भी करता है । आत्मा के उपासक बनने से पहले

अन्तःकरण रक्षिता नहीं था। वह सर्वथा वर्तमान क्रिया के विपरीत ही कर्म करता था। उस समय इसका काम था, विषयवासनाओं का संग्रह और ज्ञानशक्ति को आवृत करना। .

अथर्ववेद में अन्यत्र भी अन्तःकरण को रक्षिता कहा है—

इन्द्रो बलं रक्षितारं दुघानां करेणेव विचकर्ता रवेण।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत् पणिमा गा अमुष्णात्।

(अथर्व का. २० सू. ९१ मं. ९)

(इन्द्रः) आत्मा ने (दुघानां) आत्मिक पूर्णताओं के (बलम्) शक्तिशाली (रक्षितारम्) पुष्ट करनेवाले अन्तःकरण को (करेणेव) मानो हाथ से (रवेण) ईश्वर चिन्तनोपयोगी वेदशब्दों से (विचकर्ता) विकृत किया है—पूर्व रूप से वर्तमान रूप में परिणत किया है। (स्वेदाञ्जिभिः) मोक्ष के व्यक्त करनेवाले व्यवहारों से (आशिरं) परिपक्वता को (इच्छमानः) चाहते हुए उसने (पणिम्) मोक्ष विरोधी व्यवहार को (अरोदयत्) रुलाया है नष्ट किया। और उन व्यवहारों से आक्रान्त (गाः) प्रकाशों को उनसे (आ अमुष्णात्) सर्वथा छीन लिया है।

वृत्तियों के निरोध और ज्ञान के प्रकाश का कितना स्पष्ट वर्णन है। यहाँ रक्षिता पद अन्तःकरण के लिये, हाँ उपासक के अन्तःकरण के लिये, कितनी स्पष्टता से प्रयुक्त किया गया है।

इन मंत्रों के "इषवः" पद का अर्थ हमने परमात्मा की वाण सदृश शक्तियाँ किया है। इषु शब्द इष धातु से बनता है। इस धातु का अर्थ है, गति, हिंसा और दर्शन। हमारे इस प्रकरण के लिए दर्शन अनुकूल है। दर्शन का अर्थ है देखना। आत्मा परमेश्वर की ज्ञान-शक्ति के सहारे से ही शुभ मार्गों को देखता है, इसलिये इषु शब्द का "परमात्मा की शक्ति" अर्थ व्याकरण-सङ्गत है। इस अर्थ में इषु पद का प्रयोग अथर्ववेद में अन्यत्र भी कई स्थानों पर आया है। पाठकों के परिचयार्थ हम इस विषय का प्रतिपादक एक मंत्र यहाँ उद्धृत किये देते हैं—

उत्तुदस्त्वोत तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषु कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि।

(अथर्व. का. ३ सू. २५ सं. १)

हे अविद्या ! (उत्तुदः) तुझे उखाड़नेवाला उपासक (स्वः) तुझे (उत्तुदतु) उखाड़ दे। (स्वे शयने) अपने शयनस्थान हृदय में (मा धृथाः) मत ठहर। (कामस्य) शोभनीय भगवान् की (या) जो (भीमा) भयानक (इषुः) तीरसदृश

ज्ञानशक्ति है, (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बींधता हूँ—उसके द्वारा तेरा समूल नाश करता हूँ ।

इन मंत्र के मनन से पाठक समझ गये होंगे कि ''इषवः'' पद का ''बाण सदृश भगवान् की शक्तियाँ अर्थ निराधार नहीं है ।

परमात्मा की शक्तियों को बाण की उपमा इसलिये दी गई है कि बाण जिस प्रकार अपने लक्ष्य के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, इसी प्रकार वे भी आत्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर उसके शत्र कुसंस्कारों का नाश कर देती हैं । इषु शब्द में बहुवचन का प्रयोग परमात्मा की शक्तियों के अनन्तत्व को ध्यान में रखकर किया गया है । नमः से सम्बद्ध अधिपति और रक्षिता शब्दों में भी बहुवचन का प्रयोग किया गया है । यह बहुवचन छहों दिशाओं के अधिपतियों और रक्षिताओं के बुद्धिस्थ परामर्श से किया गया है । इन सारे ही मंत्रों के अन्तिम भाग में मन की शुद्धि और आत्मिक उन्नति के लिये साधन भी बतलाया गया है, और वह है द्वेष और अभिमान का परित्याग । शक्ति रहते हुए भी अपने द्वेषी को परमात्मा के न्यायार्थ छोड़ देने पर द्वेष और अभिमान दोनों ही का मान-मर्दन हो जाता है । इस गुर को लक्ष्य में रखनेवाला उपासक कभी भी पतन की ओर अग्रसर नहीं हो सकता । परन्तु यह गुर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने पर ही लागू होता है । लोक-व्यवहार के लिए राजनैतिक नियम और भी हैं ।

मनसा परिक्रमा का प्रथम मन्त्र

प्राची दिगग्निरधिपति-रसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।

(अथर्व का. ३ अ. ६ व. ३७ मन्त्र १)

शब्दार्थ

उपासक की (प्राची) प्रथम (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (अग्निः) अग्नि के समान अल्प प्रकाशवाला है अथवा उन्नति के लिये आगे बढ़नेवाला है । (रक्षिता) मन (असितः) श्यामवर्ण है । (इषवः) परमात्मा की बाणसदृश ज्ञान रश्मियाँ (आदित्याः) सूर्य की रश्मियों के समान सर्वत्र फैल रही है । अथवा ''आददाना यन्ति'' इस व्युत्पत्ति से आत्मा को अपनी ओर खींच रही हैं । (तेभ्यः) उन सब अवस्थाओं के (अधिपतिभ्यः) उपासक आत्माओं का (नमः) कल्याण हो । (रक्षितृभ्यः) छहों अवस्थाओं के अन्तःकरण

का (नमः) मङ्गल हो—उनकी विशुद्धि हो। (इषुभ्यः) परमात्मा की दिव्यशक्तियों के लिये (नमः प्रणाम हो। (नम एभ्यो अस्तु) ये सबके सब परस्पर सम्बद्ध होकर शुभ कारक हों। उसके लिए हे भगवन्। (योऽस्मान् द्वेष्टि) जो हमारे साथ द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) और इसीलिये जिससे हम प्रेम नहीं करते। (तं वो जम्भे दध्मः) उसे आपके न्यायरूपी जबड़े के अर्पित करते हैं।

विशेष वक्तव्य

सामान्य वक्तव्य में दिक् शब्द का अवस्था अर्थ किया गया है। प्राची शब्द यहाँ दिक् शब्द का विशेषण है। "प्रागञ्चत्यस्यामुपासकः" (जिसमें उपासक प्रथम पग रखता है) इस व्युत्पत्ति से प्राची पद का प्रथम अर्थ किया है। और "प्राची" तथा "दिक्" दोनों का मिलकर प्रथम अवस्था अर्थ हो जाता है।

भावार्थ

उपासक की आरम्भिक अवस्था का कैसा मनोहर भावपूर्ण आलङ्कारिक वर्णन है। आत्मा को अग्नि कहकर उसके वर्तमान स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। अग्नि का प्रकाश आत्मा में ज्ञान की सत्ता का बोध करा रहा है। दूसरी ओर विशाल प्रकाश के भण्डार सूर्यदेव को दिखलाकर, जीव का प्रकाश अनन्त ज्ञान के भण्डार भगवान् की सहायता से बढ़ता है, यह स्पष्ट किया गया है। आँखों की रश्मियाँ बहुत थोड़ी दूर की वस्तुओं को देखने का काम करती हैं। परन्तु दूरबीन के शीशे की रश्मियों का सहयोग पाकर बड़ी दूर तक देख सकती हैं। आँखों की शक्ति तो अब भी वही है, परन्तु प्रबल सहकारी के प्राप्त होने पर वह शक्ति बढ़ी हुई प्रतीत होती है। जीव का ज्ञान अल्प है। परन्तु ईश्वरप्रणिधान के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान की सहायता पाकर वह विशाल और वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान करने योग्य बन जाता है। ईश्वरीय ज्ञान का सहयोग ही जीव को मुक्ति जैसे उच्च पद का भागी बनाता है। यही कारण है कि मुक्ति का नियत समय समाप्त होने पर, उस ज्ञान का सहयोग दूर होते ही जीव फिर अल्पज्ञ रह जाता है और इसीलिए उसे कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए फिर संसार में आना पड़ता है। अग्नि से सूर्य को भिन्न दिखलाकर, जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं यह ध्वनित किया गया है। अन्तःकरण को यहाँ श्याम दिखलाया गया है। यह अन्तःकरण में तमोगुण की प्रधानता तथा वासनाओं के समूह का निदर्शन है। योगदर्शन के प्रथम सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास जी ने अन्तःकरण के लिए लिखा है—"चित्तं हि प्रख्या-प्रवृति-स्थिति-शीलत्वात् त्रिगुणम्" चित्त, तत्त्वज्ञान, प्रवृत्ति और स्थिति तीन प्रकार के

कार्य करता है, इसलिए सत्व, रज और तम तीन गुणों से इसकी रचना हुई है। चित्त में जब तमोगुण बढ़ जाता है और सत्वगुण तथा रजोगुण कम हो जाते हैं तो अधर्म, अज्ञान, विषयों की लालसा और हीनता से आक्रान्त हो जाता है। अनेक कुवासनाएँ उसे घेर लेती हैं। तमोगुण से उत्पन्न हुए इन वासनाओं के समुदाय को ही यहाँ, अन्तःकरण के अन्दर भरी हुई ठोस स्याही का रूप दिया गया है। जीव इन वासनाओं की स्याही से घिरा हुआ दिखलाया गया है। ईश्वर स्थानीय सूर्यदेव की किरणें चारों ओर फैल रही हैं। परन्तु अन्तःकरण की काली दीवार को पारकर अग्निरूप आत्मा के पास नहीं पहुँच सकतीं। चाहता हुआ भी जीव उनसे कोई लाभ नहीं ले सकता। जीव की विवशता का यह कैसा सुन्दर चित्रण है। वह अभिलाषा करता है कि मुझे प्रभु के ज्ञान का प्रकाश मिले। परन्तु उसकी अपनी ही समय पर उत्पन्न की हुई वासनाओं का जाल उसके मनोरथ को सफल नहीं होने देता। इन वासनाओं के ही प्रभाव से मन सांसारिक विषयों की ओर बार-बार दौड़ाता रहता है। मन के इस विक्षेप को योग दर्शन में व्याधि स्त्यान आदि नौ भागों में बाँटकर वर्णन किया है। यजुर्वेद के चौंतीसवे अध्याय के प्रथम मन्त्र में इसी विक्षेप का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

''यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।''

विषयों के प्रकाशक इन्द्रियरूप ज्योतियों की सहायक ज्योति मेरा मन शुभ संकल्प को धारण करे। वह मन जो जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में भी दूर-दूर दौड़ता रहता है।

मन के इस दोष को दूर करने के लिए ईश्वरप्रणिधान एक अपूर्व साधन है। भगवान् ने यहाँ प्रकाशमान सूर्य को दिखलाकर, ज्ञान के भण्डार परब्रह्म के चिन्तन की ओर निर्देश किया है। ऋषि पतञ्जलि ने भी 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'' ईश्वर प्रणिधान से भी चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, इस सूत्र से इसी विषय को स्पष्ट किया है। इस उपाय का अनुष्ठान करता हुआ उपासक, भगवान् से आत्मकल्याण के लिए प्रार्थना करता है। अन्तःकरण में शुभ सङ्कल्प के सञ्चार और उसमें कुवासनाओं के संहार की अभिकाङ्क्षा करता है और भगवान् को सब शक्तियों के सामने इस शुभ कार्य में सहायता के लिए शिर झुकाता है। वह अपने विरोधी को स्वयं दण्ड नहीं देना चाहता, परन्तु अपने क्रोध और अभिमान के संहार की कामना से उसे प्रभु न्याय दंष्ट्रा के अर्पण कर देता है। अपने इन शुभ कर्मों द्वारा वह तमोगुण के प्रबल आक्रमण से छूटकर दूसरी अवस्था में पग रखता है।

द्वितीय मन्त्र

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्योनमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।

शब्दार्थ

दूसरी (दक्षिणा) समृद्ध (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) जीवात्मा (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली है। (रक्षिता) मन (तिरश्चिराजी) टेढ़े चलनेवाले जन्तुओं के समान है। (इषवः) भगवान् की वाणसदृश शक्तियाँ (पितरः) पालक रूप है। शेष मंत्र भाग का अर्थ आगे के सब मंत्रों में प्रथम मंत्र के समान है।

विशेष वक्तव्य

दक्षिण शब्द इस मंत्र में दूसरी अवस्था के लिए आया है। यह शब्द दक्ष धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है "बढ़ना"। ईश्वरप्रणिधान से जीव की आध्यात्मिक अवस्था उन्नत हो गई है और इसीलिए इस दूसरी अवस्था का नाम दक्षिणा हुआ है। इस अवस्था में आत्मा को इन्द्र कहा है। यह शब्द इदि धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है "ऐश्वर्य प्राप्त करना"। इस अवस्था में जीव धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का पुजारी बनता है। प्रथम अवस्था में अन्तःकरण में तमोगुण की मात्रा अधिक थी। परन्तु अब तमोगुण का ह्रास हो गया है रजोगुण की मात्रा अधिक है। इस अवस्था के लिए योग भाष्य में व्यास जी ने लिखा है—

"तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति।"

वही चित्त मोहावरण से छूटकर, सब ओर से प्रकाशित होता हुआ धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर चलता है।

यही कारण है कि आत्मा को यहाँ इन्द्र कहा है। अन्तःकरण की इस रजोगुण प्रधान अवस्था का वर्णन यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में भी इसी प्रकार किया है। वह मंत्र यह है —

"येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तःप्रजानां तन्मे मनः शिव-सङ्कल्पमस्तु"।

जिस रजोगुण प्रधान मन से कर्मशील विद्वान् लोग, यज्ञों और अनेक प्रकार की ज्ञानगोष्ठियों में शुभ कर्म करते हैं और जो विचित्र शक्तियों का भण्डार और सत्कार योग्य है वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे।

अन्तःकरण को यहाँ तिरश्चिराजी कहा गया है । तिरस् शब्द और अञ्च धातु के योग से तिरश्चि शब्द बना है, ''तिरस्'' का अर्थ है टेढ़ा, और 'अञ्च' का अर्थ चलना है ''राजी'' नाम श्रेणी का है । इसलिए इस शब्द का अर्थ टेढ़े चलनेवाले जन्तुओं की श्रेणी होता है । रजोगुण से उत्पन्न हुई चञ्चलवासनाओं का यह कैसा सुन्दर रूपक है । राजस वासनाओं और तिरश्चिराजी की तीव्रगति से कितनी अच्छी समानता है । दोनों ही के हानिकारक परिणाम भी सर्वथा समान हैं ।

परमात्मा की शक्तियाँ यहाँ पिता या पालक के रूप में दिखलाई गई हैं । परमात्मा की शक्तियाँ सदा ही जीवों के पालन के लिए, उन्हें पवित्र गुणों से पुष्ट करने के लिए प्रस्तुत रहती हैं । परन्तु जो जीव उन शक्तियों से लाभ नहीं उठाता, उसके लिए तो भगवान् का पितृत्व गुण न होने के समान है और यही कारण था कि उपासक की प्रथम तमोगुण प्रधान अवस्था में भगवान् की इस शक्ति का उल्लेख नहीं किया गया । अब दूसरी अवस्था में जीव भगवान् के गुणों से लाभान्वित होने लग गया है । अतः यहाँ भगवान् को पिता नाम से कहा गया है ।

भावार्थ

दूसरी अवस्था उपासक को समृद्ध करने वाली है । यज्ञ, दान, ज्ञानचर्चा आदि धर्म के अङ्गों का अनुष्ठान इस अवस्था में किया जाता है । इसके पास सांसारिक ऐश्वर्य बड़ी तीव्रता से आता है, परन्तु यह उसका उचित उपयोग करता हुआ उसके संग्रह से बचने का यत्न करता है । यज्ञ ज्ञान आदि पवित्र भाव ही इसे भले प्रतीत होते हैं, और उन्हीं का संग्रह करता है । और इसी प्रकार की सम्पत्ति से यह अपने आपको सम्पत्तिशाली या इन्द्र समझता है । यद्यपि ये धर्मकार्य भी परलोक में इसके श्रेष्ठ जन्म साधन बनते है, और इसीलिए बन्धन के कारण हैं । परन्तु बन्धन के लिए प्रस्तुत की गई इस शृङ्खला में और तमोगुणप्रधान अवस्था की शृङ्खला में रात्रि दिन का अन्तर है । यदि वह लोहे की शृङ्खला थी तो यह सोने की है । वह दूषण थी और यह भूषण है । वह अपमान, अपयश, लोकनिन्दा और निन्दित जन्म का कारण थी, और यह मान, यश, प्रशंसा और श्रेष्ठ जन्म का कारण है । यही ऐश्वर्य संसार के सब ऐश्वर्यों में उत्तम है । परिश्रम से भगवान् के शुभ गुणों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर, आत्मा के अन्तःकरण के तमोगुण को निर्बल कर दिया है । उसकी निर्बलता से रजोगुण जाग उठा है । अपनी वृत्तियों का विस्तार कर उसी ने इस धर्मानुकूल कर्म-शृङ्खला को जन्म दिया है । सत्वगुण यद्यपि प्रबल नहीं है, परन्तु सूक्ष्म रूप में होता हुआ भी वह तमोगुण का प्रतिबन्ध हट जाने के

कारण रजोगुण का सहायक बन गया है। इसकी वृत्तियाँ अब सर्प आदि कुटिलगामी जन्तुओं की तरह चञ्चल और मुक्ति से वञ्चित रखने के कारण हानिकारक तो अवश्य है, परन्तु वे इसे कुमार्ग की ओर ले जानेवाली नहीं हैं। तमोगुण के क्षीण हो जाने पर इसके अन्तःकरण में कुछ मात्रा में प्रतिबिम्बित हुई परमात्मा की शक्तियाँ भी अब इसका पुत्र की तरह पालन कर रही हैं। पिता की गोद में बैठकर बच्चे को जो उत्साह और आह्लाद होता है, उसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भगवान् की प्रेरणानुसार शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य उसी आह्लाद का साक्षात् अनुभव करता है। मार्ग के सङ्कट कण्टकों को भी फूल समझता हुआ उपासक अब बड़े प्रमोद से उनके साथ खेला करता है। इस प्रकार शुभ कर्मों का अनुष्ठान और ईश्वरप्रणिधान करता हुआ वह अब तृतीय अवस्था की ओर अग्रसर होता है।

तृतीय मंत्र

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

शब्दार्थ

तीसरी (प्रतीची) भगवान् की ओर ले जानेवाली (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (वरुणः) ग्रहण करनेवाला (रक्षिता) मन (पृदाकुः) अजगरों के सदृश और (इषवः) परमात्मा की बाण सदृश शक्तियाँ (अन्नम्) खाद्यरूप हैं।

विशेष वक्तव्य

तीसरी अवस्था में आत्मा को वरुण कहा गया है। वरुण शब्द वृ धातु से बना है। वृ धातु का अर्थ स्वीकार करना है। प्रथम अवस्थाओं में भगवान् की ओर उन्मुख करने के लिए, इसके लिए उपदेश की आवश्यकता थी। परन्तु अब यह प्रभु के गुणों को अङ्गीकार करने के लिए स्वयं दौड़ता है। इसलिये यहाँ इसे वरुण कहना सङ्गत ही है।

मन को यहाँ पृदाकु नाम दिया गया है। पृदाकु शब्द पर्द धातु से काकु प्रत्यय होकर बना है। पर्द धातु का अर्थ है बुरा शब्द करना। बुरा शब्द करनेवाले यद्यपि बहुत जन्तु होते हैं परन्तु हमारे इस प्रकरण के लिए अजगर अर्थ अनुकूल है। अजगर जैसे बड़े-बड़े दृढ़मूल संस्कार अब अन्तःकरण में शेष रह गये हैं। शेष सब दुर्वासनाएँ निर्मूल हो चुकी हैं। बस यही इस रूपक का तात्पर्य है।

परमात्मा की शक्तियों को यहाँ अन्न कहा गया है । अन्न शब्द अद् धातु से बना है । अद् धातु का अर्थ है खाना । इसलिए यह तात्पर्य हुआ कि परमात्मा की ज्ञानशक्ति अब जीवात्मा का खाद्य बन गई है । जीवात्मा का आत्मिक भोजन ज्ञान है । ज्ञान से ही आत्मा का बल, ज्ञान बढ़ता, और बलवर्धक पदार्थ को ही खाद्य कहते हैं । अब आत्मा उसी वास्तविक भोजन को अपना भोजन समझता है । संसार की अन्य वस्तुओं से अब इसका मन हट गया है । यदि किसी वस्तु की इसे लालसा है तो वह ईश्वरीय ज्ञान है ।

भावार्थ

विषयों की ओर बहती हुई चित्त नदी के प्रवाह को रोके बिना, उसका भगवान के गुणों की ओर झुकाव होना असम्भव है । इसलिये उपासक को विषयों के दोषों की समालोचना, विवेचनात्मक बुद्धि से करनी पड़ती है । विवेचन के आधार पर श्रद्धा और उत्कण्ठा को उस ओर से हटाकर, प्रभु के पवित्र गुणों की ओर आकर्षित करना पड़ता है । ऋषि पतञ्जलि का ''दृष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'' सूत्र इसी विचार को प्रकट करता है। इसका भाव है, लौकिक और पारिलौकिक दोनों ही प्रकार के विषयों की तृष्णा को छोड़कर, मन को वश में करना वैराग्य है । वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है । वृत्तियों का निरोध होने पर ही आत्मा को ईश्वरीय गुणों से निरन्तर ग्रहण करने का अवसर मिलता है और तभी वह वरुण कहलाने के योग्य होता है । वैराग्य और ईश्वरप्रणिधान द्वारा, विषय की उत्कण्ठा को उपासक ने अब दूर कर दिया है । कोई एक दो दृढ़मूल संस्कार शेष रह गये हैं । और उन के भी उन्मूलन के लिए प्रयत्न किया जा रहा है । अब अन्तःकरण विशेष रूप से ज्ञान के ही ग्रहण, चिन्तन और धारण के लिए व्यापारित किया जाता है । यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय का तीसरा मन्त्र इस प्रकार है —

''यत्प्रज्ञानमृत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु''।

जो उत्कृष्ट ज्ञान का साधन, प्रभु का ही प्रतिक्षण चिन्तन करनेवाला, दृढ़ धारणा वाला, प्रकाशरूप, उत्पन्न होनेवाली शरीर की शक्तियों के बीच में अमर अर्थात् सदा साथ रहनेवाला, और जिसके बिना मनुष्य कोई भी कार्य नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे ।

इस अवस्था में भी अन्तःकरण में है तो रजोगुण की प्रधानता परन्तु ज्ञान में उत्कृष्टता आ गई है । इसीलिए मन को यहाँ प्रज्ञान कहा है । स्मृतिशक्ति और धारणा शक्ति भी बढ़ गई है । इसीलिये उसे चेतः और धृति कहा है ।

इस अवस्था में अन्तर् (भीतर) से उज्ज्वल हो गया है और उसकी ज्योति अन्तर्ध्यान होने पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, इसीलिए उसे "अन्तर्ज्योति" कहा है। स्वच्छ होने पर अब प्रभु के चिन्तन में तल्लीन रहता है। जिस सद्भावना को स्वाध्याय से या श्रवण से जानता है, उस को मनन कर तत्काल धारण कर लेता है। प्रसाद और उपेक्षा के भाव दूर कर दिये हैं। इसीलिए आत्मा को अब वरुण उपाधि मिल गई है। दूसरी अवस्था में परमात्मा की शक्तियाँ पिता की भाँति जीव का पालन करती थीं, परन्तु अब जीव स्वयं भावुकता से उस ओर झुका हुआ है और इसीलिये शक्तियाँ अब इसका अन्न-आध्यात्मिक भोजन बन गई हैं। जिस प्रकार भूखा भोजन के लिये, उसी प्रकार यह उन शक्तियों के ग्रहण के लिए अब स्वयं दौड़ता है। ज्ञान की उत्कृष्टता को प्राप्त कर उपासक चतुर्थ अवस्था में प्रवेश करता है।

चतुर्थ मन्त्र

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

मन्त्रार्थ

चौथी (उदीची) ऊपर को ले जाने वाली (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (सोमः) चन्द्रमा के गुणों वाला होता है। (रक्षिता) मन (स्वजः) स्व-स्वरूप में ही परिणत होता रहता है। (इषवः) परमात्मा की बाणसदृश शक्तियाँ (अशनिः) विद्युत् के समान है।

विशेष वक्तव्य

उदीची शब्द उत् पूर्वक अञ्च धातु से बनता है। अञ्च का अर्थ उत् को साथ मिलाने पर ऊपर को ले जाना हो जाता है। सोम शब्द षुञ् धातु से बनता है। इसका अर्थ है निचोड़ना या रस निकालना। चन्द्रमा वनस्पतियों में रस का सञ्चार करता है इसलिये उसे सोम कहा गया है। जो मनुष्य चन्द्रमा की भाँति प्रेम-रस की वर्षा करने वाला हो उसे भी सोम कह सकते हैं। स्वज शब्द स्व और जन धातु से बनता है। स्व का अर्थ है स्वयं और जन का अर्थ है उत्पन्न होनेवाला। इस अवस्था में मन स्व स्वरूप में ही परिणत होता है इसलिए उसे स्वज कहा गया है। अशनि नाम विद्युत् का है, विद्युत् एक प्रकाशमान् तत्त्व है। भगवान् का ज्ञानरूप प्रकाश यहाँ अन्तःकरण में विद्युत् की तरह फैल जाता है, इसलिये परमात्मा की ज्ञानशक्ति को यहाँ अशनि कहा है। अश् नाम खाने का है और परमात्मा की ज्ञान शक्ति इस अवस्था मे जीव के रजोगुण के विक्षेप को खा जाती है, इसलिये उसे यहाँ अशनि कहा है।

भावार्थ

तृतीय अवस्था में आत्मा ज्ञान को अपना भोजन बना चुका था अब वह ज्ञान से परिपूर्ण होकर गम्भीर और शान्त बन गया है। चन्द्रमा जिस प्रकार सूर्य की किरणों को प्राप्त कर उनके द्वारा वनस्पतियों में रस का सञ्चार करता हुआ संसार को लाभ पहुँचाता है इसी प्रकार जीवात्मा अब परमात्मा के ज्ञान से परिपूर्ण होकर उस ज्ञान के द्वारा संसार को लाभ पहुँचा रहा है और चन्द्रमा की तरह प्रशान्त होकर संसार के प्रेम का भाजन बन रहा है। यह अब अपने अन्तःकरण से वासनान्धकार का समूल नाश कर चुका है। अब एक ही वृत्ति शेष रह गई है, उसका नाम है प्रकृति-पुरुष-विवेकख्याति, अर्थात् प्रकृति पुरुष की विभिन्नता का ज्ञान। यह अवस्था अन्तःकरण का सात्विक परिणाम है। निर्बीज समाधि की प्राप्ति के लिए चित्त की इस वृत्ति का निरोध करना पड़ता है। इस अवस्था में चित्त धर्म-मेघ ध्यान का अनुसरण करता है। चित्त की इस अवस्था को यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के चतुर्थ मंत्र में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

''येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्त्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु।''

जिस अमृत - आत्मा के साथ सदा रहने वाले अन्तःकरण ने, भूत, वर्तमान और भविष्यत् वस्तुओं को जान लिया है अर्थात् उनके गुण विभाग को समझ कर उन्हें चैतन्य शक्ति से विभिन्न समझ लिया है। जो पांच ज्ञानेन्द्रियों आत्मा और बुद्धि इन सात होताओं के द्वारा ज्ञान-यज्ञ और परोपकारयज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे।

सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरण के द्वारा इस अवस्था में आत्मा सारे प्राकृतिक तत्त्वों को जान लेता है। उनकी विशेषताओं को जानकर चैतन्य और जड़ के भेद को भलीभाँति समझ जाता है। उसकी बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ अब ज्ञानयज्ञ का ही अनुष्ठान किया करती हैं। अपने उस पवित्र ज्ञान से वह संसार के प्राणियों का उपकार किया करता है। लोगों के क्रोध से आक्रान्त होने पर भी अब उसे क्रोध नहीं आता। वह सर्वदा शान्त और मधुरभाषी रहता है। इस प्रकार विवेकख्याति को उत्पन्न कर उपासक पांचवीं अवस्था की ओर अभिगमन करता है।

पञ्चम मन्त्र

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिरपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो

अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।

शब्दार्थ

पांचवीं (ध्रुवा) निश्चल (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (विष्णुः) ज्ञान से व्यापक है । (रक्षिता) मन (कल्माषग्रीवः) श्यामकण्ठ है । (इषवः) परमात्मा की बाण सदृश शक्तियाँ (वीरुधः) बल्ली के समान हैं ।

विशेष वक्तव्य

ध्रुव शब्द ध्रुव धातु से बना है । इसका अर्थ है स्थिर होना । इस अवस्था में अन्तःकरण स्थिर होता है । विवेकख्यातिनामक वृत्ति का भी यहाँ निरोध हो जाता है । इसीलिए इस अवस्था को ध्रुव कहा गया है । जीवात्मा को यहाँ विष्णु कहा गया है । यह शब्द विष धातु से बना है । इस धातु का अर्थ है व्यापक होना । इस अवस्था में आत्मा का ज्ञान अपने अंश में पूर्ण और व्यापक हो जता है, इसलिए उसे विष्णु कहा है । मन को यहाँ कल्माषग्रीव नाम दिया गया है । कल्माप का अर्थ रङ्गों को आक्रान्त करने वाला है, यह कार्य काला और चित्र दोनों रंग कर देते हैं । चित्र नाम पड़ने पर भी वर्तमान अनेक रंगों के नाम भूल जाते हैं । और काला रंग भी सब रंगों को दबा लेता है । हम अपने प्रकरण के अनुसार श्याम अर्थ ही लेंगे । रभस और हेम कोषकार ने भी इसके श्याम अर्थ को स्वीकार किया है । ग्रीवा नाम गर्दन का है । अब दोनों पदों का सम्मिलित अर्थ हो गया ''काली गर्दनवाला'' । प्रथम अवस्था में अन्तःकरण को संस्कारों के आवरण और तमोगुण के प्रभाव से श्याम दिखलाया गया था । अब केवल विवेकख्याति नामक एक वृत्ति शेष रह गई थी और अब इसका भी अन्त होनेवाला है । यही कारण है कि 'श्यामता' को अन्तःकरण के कण्ठ में दिखलाया गया है । जब किसी मनुष्य के प्राण समाप्त होनेवाले हों तो उसके लिए इसी प्रकार का प्रयोग किया जाता है । कहा जाता है कि ''कण्ठ में प्राण है'' । भगवान् ने यहाँ इसी शैली का प्रयोग कर वृत्ति के अन्त की सूचना दी है । परमात्मा की शक्तियों को यहाँ वीरुध् कहा गया है । वीरुध् शब्द वि उपसर्ग और रुध् धातु से बनता है । वि का अर्थ विशेष और रुध् का अर्थ आवृत या आच्छादित करना है । जिस प्रकार बेल वृक्ष पर चढ़कर उसे चारों ओर से घेर लेती है इसी प्रकार परमात्मा की विभूतियों ने आत्मा को अब सब ओर से आच्छादित कर लिया है । बेल में से रस निकलता है और उपनिषदों में आनन्द को भी रस कहा है ।

''रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।''

(परमात्मा का आनन्द रस है, और उस रस को ही प्राप्त कर जीव आनन्दित होता है ।) पहली अवस्थाओं में जीव विज्ञान की प्राप्ति के लिये यत्न करता रहा है, परन्तु यहाँ वृत्तिनिरोध हो जाने से प्रभु के आनन्द रस को भी लूटता है । परन्तु इतना ध्यान रहे कि बेल में से रस निचोड़कर निकाला जाता है । इसी प्रकार उपासक भी यहाँ समाधि लगाने पर ही आनन्द का अनुभव करता है, सर्वदा नहीं । इस समय यह युञ्जान योगी अवस्था में है ।

भावार्थ

तमोगुण के मनमोहक चित्रों का अन्त हुआ । रजोगुण के जगमगाती हुई विषयमाला भी अतीत के गर्भ में विलीन हो गई । अपने सब खिलौने आत्मा ने अपने हाथों तोड़ डाले । अब रह गया खाली हाथ । खेले तो किस वस्तु से खेले । विवश संसार से मुख मोड़ना पड़ा । परन्तु अन्तर्मुख होते ही एक विचित्र दृश्य की जवनिका उठी । इतना उज्ज्वल और इतना मधुर प्रकाश आत्मा ने अब तक कभी न देखा था । इस जगद्भानु की थोड़ी थोड़ी झलक तो दूसरी अवस्था में ही प्रतीत होने लगी थी । परन्तु चतुर्थ अवस्था में यह जगमगाता हुआ मस्तिष्क में उदित हो गया था । अब पांचवीं अवस्था में तो अपनी रश्मियाँ फैलाकर इसने इतना विस्तार किया कि जगत् के कोने कोने में इसकी आभा देदीप्यमान प्रतीत होने लगी । इस प्रकार के विकास से ही आत्मा ने अब विष्णु की पदवी पाई । उसने अन्तःकरण को एक और ठोकर लगाई और इस आघात से सत्त्व गुण की सुता विवेकख्याति को भी उसके कारण में लीन कर दिया । अब दोष के बीजों का भी सर्वनाश हुआ और अन्तःकरण की लीलाओं का उपसंहार हुआ । अतएव प्रतिबन्धक के अभाव से ज्ञान का विस्तार और आत्मा में आनन्द का सञ्चार हुआ । योगिराज पतञ्जलि ने इस अवस्था को कैवल्य के निकट की अवस्था कहा है । उनका सूत्र है—

''तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्''

(विवेकख्याति से भी वैराग्य हो जाने पर दोष के बीज का नाश और मोक्ष का लाभ होता है) । अब आनन्दकन्द भगवान् के आनन्द की लता आत्मा के सब अङ्गों पर फैल गई । चिरकाल के बिछड़े सम्बन्धी मिल गये । आनन्द रस में निमग्न उपासक की ओर श्रद्धा और प्रेम से भरी जनता की दृष्टि पड़ने लगी । सब के चित्त अब इसी की ओर उमंगभरी भावना से खिंचने लगे । इस अवस्था का चित्र, यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के पांचवें मन्त्र में इस प्रकार खींचा गया है—

''यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।''

जिस मन के अन्दर ऋक्, यजु और साम नामक सब विज्ञान, रथ की नाभि में अरों की तरह ओतप्रोत है। और जिसके अन्दर संसार के सब प्राणियों का चित्त-समुदाय आकर्षित होकर प्रविष्ट हो गया है। वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे।

मन्त्र के पूर्वार्ध में ज्ञान की व्यापकता दिखलाई गई है और उत्तरार्ध में विशुद्ध दिखलाई गई है और उत्तरार्ध में विशुद्ध आत्मा में आकर्षण की महत्ता का वर्णन है। आत्मशुद्धि का प्रभाव दूसरे प्राणियों पर अवश्य पड़ता है।

''अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः''

(अहिंसा के स्थिरमूल हो जाने पर उस अहिंसक महात्मा के पास जाकर विरोधी प्राणी शत्रुता छोड़ देते हैं।) यह पतञ्जलि का सूत्र आत्मशुद्धि के अन्यों पर प्रभाव का स्पष्ट व्याख्यान कर रहा है। इस अवस्था में जो ज्ञान की व्यापकता दिखाई गई है उसका भी पतञ्जलि ऋषि अनुमोदन करते हैं। उनका सूत्र है—

''तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयञ्चेति विवेकजं ज्ञानम्।''

तात्पर्य यह है कि विवेक अवस्था में अन्तःकरण में ज्ञान अपनी प्रतिभा से ही उत्पन्न होता है। इस ज्ञान के द्वारा योगी सब विषयों में युगपत् जान लेता है। इस प्रकार ज्ञान के भण्डार रस को प्राप्त कर उपासक छठी अवस्था के लाभ का यत्न करता है।

षष्ठ मन्त्र

ऊर्ध्वा दिग्वृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

शब्दार्थ

छठी (ऊर्ध्वा) ऊँची (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (वृहस्पतिः) बड़ों-बड़ों का स्वामी है। (रक्षिता) मन (श्वित्रः) सफेद है। (इषवः) परमात्मा की बाण सदृश शक्तियाँ (वर्षम्) वृष्टि रूप हैं।

विशेष वक्तव्य

ऊर्ध्वा शब्द का अर्थ है ''ऊँची''। वस्तुतः यह अवस्था पिछली सब अवस्थाओं से ऊँची है। उदीची दिशा ऊँचे ले जाने वाली थी, परन्तु यह ऊँचे ले जानेवाली नहीं स्वतः ऊँची है। जीवात्मा को यहाँ वृहस्पति कहा है। यह शब्द वृहत् और पति शब्द के मेल से बना है। इनमें से वृहत् का अर्थ बड़ा और पति का अर्थ स्वामी है। इस प्रकार इसका अर्थ बड़ों-बड़ों का स्वामी हो

जाता है । यह अवस्था आत्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है । अतः ऐसे आत्मा को तो महत्तम कहना युक्तियुक्त ही है । मन को यहाँ श्वित्र कहा गया है । श्वित्र शब्द श्विति धातु से बना है इस धातु का अर्थ है सफेद होना । इसलिये श्वित्र शब्द का अर्थ सफेद है । पहिली अवस्था में अनेक वासनाओं से आक्रान्त अन्तःकरण को श्याम दिखलाया गया था । वासनाओं के समूलनाश हो जाने के कारण इस अवस्था में उसे श्वेत कहा गया है । परमात्मा की शक्तियाँ वर्ष बन गई हैं । वर्ष शब्द वृषु धातु से बना है । इसका अर्थ है खींचना या, वृष्टि करना, आत्मा के ऊपर अब परमात्मा के परमानन्द की प्रतिक्षण वर्षा हो रही है । अतः आनन्दशक्ति को यहाँ वर्ष नाम उचित ही दिया गया है ।

प्रथम अवस्था में तमोगुण की पाप कर्म जननी वासनाओं का अन्त हुआ । द्वितीय और तृतीय अवस्थाओं में रजोगुण की धर्मानुसारिणी वृत्तियों का तिरोधान हुआ । चतुर्थ अवस्था में सत्वगुण की महिमा से विवेकख्याति प्रकट हुई । पञ्चम अवस्था में विवेकख्याति भी अपने कारण में लीन हो गई । आत्मा की पुनीत गुहा में भगवान के विज्ञान का दीपक जल गया और आनन्द रस के अस्वाद से आत्मा प्रफुल्लित और कृतकृत्य हो गया । अब इस अवस्था में विज्ञान के विशाल भण्डार पर अधिकार कर यह वृहस्पति बना है । संसार में अनेक वस्तुएँ बड़ी हैं, परन्तु महत्ता की पराकाष्ठा भगवान् के स्वरूप में मानी गई है । फिर उसका जिसने आलिङ्गन किया हो, उससे बड़ा मनुष्य संसार में कौन है । वह देवगुरु है — वृहस्पति है उसका अन्तःकरण अब उज्ज्वल है और विज्ञान की देदीप्यमान आभा से चमक रहा है । प्रथम वह प्रतिबन्धक था । परन्तु अब आत्मा के साथ होकर संसार के भूले पथिकों को मार्ग दिखला रहा है । मन की इस उच्च अवस्था का वर्णन, यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय के षष्ठ मंत्र में बड़ी सुन्दरता से किया गया है । मन्त्र और उसका भाव आगे पढ़िये —

**''सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।''**

''जिस प्रकार विद्वान् सारथि सुशिक्षित घोड़ों को रस्सियों द्वारा उचित मार्ग पर चलाता है इसी प्रकार तीव्र वेगवाला भी अब निश्चल हुआ-हुआ मेरा मन, मनुष्यों को शुभ मार्ग पर भली-भाँति ले जा रहा है । अब यह शिवसङ्कल्प ही रहे, अर्थात् पतन की ओर न जावे ।''

पांचवीं अवस्था में बल्ली में से रस निचोड़ना पड़ता था, समाधि लगाने पर आनन्द की प्राप्ति होती थी । परन्तु अब तो अहर्निश आनन्द की वर्षा हो रही है । इसी अवस्था के लिये योगिराज पतञ्जलि ने कहा है—

''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्''

(इस समय आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर होता है) पहले विक्षिप्त मन

उस में क्षोभ उत्पन्न करता रहता था । पर अब ऐसा नहीं है इस सूत्र की यह व्याख्या व्यास जी ने की है । उनकी भी यह व्याख्या निर्मूल नहीं है । उनकी इस व्याख्या में आधार है सांख्य योग प्रक्रिया और ऋषि पतञ्जलि का यह सूत्र–

''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्''
''स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति''

इसका भाव यह है ''कृतकार्य गुणों का अपने कारण में लय, अथवा स्वरूपस्थित चित्तिशक्ति-आत्मा कैवल्य है ।

यह तो हुआ ऋषि पतञ्जलि और व्यास जी का भाव । अब देखना यह है कि यदि आत्मा की स्वरूपस्थिति मात्र ही मोक्ष का स्वरूप है, तो कहना पड़ेगा कि मोक्ष में आत्मा को परमात्मा की ओर से कुछ नहीं मिला । और यदि इस विचार को इसी रूप में स्वीकार कर लें तो हमें, वेदों और उपनिषदों से दूर जाना पड़ेगा । वेद और उपनिषद्, आत्मशुद्धि अथवा आत्मस्वरूप को ही मोक्ष नहीं मानते । उनके मत में मुक्त को भगवान् का आनन्द भी प्राप्त होता है । इस विषय के प्रतिपादक प्रमाण तो बहुत हैं परन्तु यहाँ विस्तारभय से हम एक दो ही दे सकेंगे ।

यथा–

मित्र ईक्षमाण आवृत आनन्दः ।

अथर्व ९-७-२३

''दृश्यमान भगवान् समन्तात् वर्तमान आनन्दरूप है'' तात्पर्य यह है कि भगवान् का दर्शन होने पर आत्मा को सब ओर से आनन्द मिलता है ।''

''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन ।''

(तैत्तरीय ब्रह्मानन्द वल्ली अ० ४)

''जहाँ से मनसहित वाक् आदि इन्द्रियाँ पहुँच न सकने के कारण लौट आती हैं उस ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करके आत्मा को किसी से भय नहीं रहता ।'' तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्द इन्द्रियों और मन की पहुँच से परे हैं । मोक्ष दशा में आत्मा को उसका साक्षात् अनुभव होता है । ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर आत्मा निर्भय होता है ।

अब पाठक समझ गये होंगे कि वेदों और उपनिषदों के मत में आत्मा की स्वरूप स्थिति ही मोक्ष नहीं है । प्रत्युत आत्मा की स्वरूपस्थिति होकर भगवान् के आनन्दरूप में स्थिति मोक्ष है । दूसरे शब्दों में हम इसी विषय को यों कह सकते हैं कि जीव प्रथम प्रकृति के क्षणिक आनन्द में निमग्न था, उसके अभ्यास से अपने आप को भूला हुआ था और अब भगवान् के आनन्दस्वरूप में निमग्न है – उसके अध्यास से अपने आप को भूला हुआ है, इसलिए

वस्तुतः अब वह अपने स्वरूप मे नहीं ब्रह्म के स्वरूप में स्थित है। इस वैदिक विचार को ध्यान में रखते हुए ही सम्भवतः ऋषि दयानन्द ने ऋषि पतञ्जलि और ऋषि व्यास के प्रस्तुत विचारों में संशोधन उपस्थित करते हुए ''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'' का अर्थ 'परमात्मा के स्वरूप में स्थिति' किया होगा। तो फिर क्या सांख्य और योग के विचार अवैदिक हैं ? नहीं। सांख्य और योग का काम तो दुःख, निवृत्ति तथा चित्तनिरोध के साधनों का उपस्थित करना था, सो उन्होंने कर दिया। ब्रह्मानन्द के प्राप्त कराने की न उन्होंने प्रतिज्ञा की थी, और न इस अनधिकार चर्चा में पड़ना उन्होंने उचित समझा। ऋषि कपिल ने प्रथम ही पुकार कर कह दिया है—

''त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः''

(तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति ही पुरुषार्थ है) मनुष्य का लक्ष्य है। ऋषि पतञ्जलि ने अपने शास्त्र का तात्पर्य बतलाते हुए प्रथम ही कह दिया है, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' (चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है)। इस प्रकार इन ऋषियों ने जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपने शास्त्र का आरम्भ किया है, उसी की गोद में अन्त तक निभाया है। ईश्वर का निरूपण भी ऋषि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोध के सहायक रूप में ही किया है। दुःखनिवृत्ति या चित्तवृत्ति निरोध के बाद ब्रह्मानन्द प्राप्ति का न उन्होंने निषेध किया है और न विधान, और न यह विषय उनके शास्त्र का प्रतिपाद्य था। दुःख निवृत्ति और वृत्तिनिरोध के बाद क्या मिलेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यदि पूछना हो तो वेद या वेदान्त के पास जाइये।

मनसा परिक्रमा की आध्यात्मिक प्रक्रिया से अन्तःकरण के मल, विक्षेप और आवरणको क्रम से दूर करता हुआ आत्मा, जब उसे सत्त्व प्रधान और निर्मल बना चुकता है, और निर्विकल्प समाधि में पहुँच जाता है तब सब प्रतिबन्धों के हट जाने से आत्मा अपने अन्दर ही चमकते हुए सूर्य की भाँति भगवान् का साक्षात्कार कर, आनन्दविभोर होता हुआ जिस कृतज्ञता से भरे स्तुति का मनोहर गान करता है उसी के स्तोत्र गान का नाम सन्ध्योपासनाविधि में उपस्थान है।

उपस्थान

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

(यजु० ३५ मं. १४)

हे भगवन्! (वयम्) हम उपासक लोग (तमसः परि) अन्धकार को छोड़कर अथवा अन्धकार से परे (उत्) ऊँची उठी हुई प्राकृत सत्वरूप ज्योति

को, (उत्तरम्) और उससे भी ऊँची उठी हुई जीवात्म-ज्योति को (पश्यन्तः) क्रम से देखते हुए (देवम्) प्रकाश स्वरूप (देवत्रा) प्रकाशमान शक्तियों को प्रकाश देकर रक्षा करनेवाले (सूर्यम्) हृदयाकाश में सूर्य की भाँति चमकने वाले उत्तमम् ज्योतिः) सर्वोत्तम ज्योतिरूप आपको (अगन्म) प्राप्त हो गये हैं।

प्रभो ! आपकी महिमा का बखान कौन करे। एक समय था जब आप के निर्मल प्रकाश से हम अन्तःकरणों के मलों को धो रहे थे। एक समय ऐसा आया जब हम उनको एक-एक करके दूर कर चुके और सत्त्वप्रधान अन्तःकरण की चमकती हुई ज्योति सामने प्रकट हुई, हम उसी को सब कुछ समझने लगे। परन्तु थोड़ा और आगे दृष्टिपात कर उस ज्योति के अन्दर उससे भी उज्ज्वल ज्योति का चमत्कार देखा, और अनुभव ने कान में धीरे से कहा कि यह आत्मज्योति है। तब तो पहिले मिली ज्योति कुछ फीकी दिखाई देने लगी और अब हम समझने लगे कि सब कुछ मिल गया, परन्तु अभी कुछ और शेष था, हमारे भाग्य का एक और पर्दा उठाना था, वह उठा और हमने सारी ज्योतियों को चमकाने वाली सारे विश्व में व्यापक एक सर्वोत्तम ज्योति के दर्शन किये, उसी समय अनुभव की किसी आकाशवाणी ने फिर धीरे से कहा जिन्हें ढूँढ़ते फिरते थे, ये ही वे तुम्हारे ज्योतिर्मय भगवान् हैं, अब तुम उनकी गोद में हो।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

(केतवः) ज्ञानरूप प्रकाश की किरण (सूर्यम्) विश्व को प्रकाशित करनेवाले, (जातवेदसम्) उत्पत्तिमान् प्रमाण प्रमेयरूप सब जगत् को जाननेवाले (त्यम्-देवम्) उस प्रकाशमय भगवान् को (उ) निश्चय ही (विश्वाय दृशे) सब विश्व का दर्शन कराने के लिए (उद्वहन्ति) ऊँचा उठाए फिरती हैं।

प्रभो मैं भूला और बहुत भूला, मैंने विश्व को और अपने आप को भी ढूँढ़ने के लिए दर दर की ठोकरें खाईं, परन्तु न विश्व मिला और न अपना आपा। मुझे यह ज्ञान कहाँ था कि ढूँढ़ने के मेरे ये सब साधन दिखावटी खिलौने हैं। वेदों ने डोंडी पीट-पीट कर अनेक बार कहा, यह कहा कि हम विश्वज्योति भगवान् के ज्ञान की किरणें हैं। विश्व को देखना चाहते हो—देखो अपने आपा को भी देखो, परन्तु भगवान् के ये ज्ञानचक्षु आँखों पर लगालो। इन ज्ञान की रश्मियों के दूरवीक्षण यन्त्र से भगवान् को और भगवान् रूपी सूर्य के महान् जाज्वल्यमान विश्व को और अपने आप को ही नहीं स्वयं भगवान् को भी देख सकूँगा, इसका मुझे कभी ध्यान ही न आया। प्रभो ! ये सब भेद तो अब आपकी पुनीत गोद में ही आकर खुले।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा।

(यजु. अ. ७ मं. ४२)

(देवानाम्) प्रकाशमान् भगवान् की दिव्यशक्तियों का (चित्रम्-अनीकम्) अनेक रूप झुण्ड, (उदगात्) मेरे अन्दर और सब ब्रह्माण्ड में प्रकट हुआ है। यह (मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः चक्षुः) सूर्य, प्राण-अपान और अग्नि का प्रकाशक है। (जगतः, तस्थुषः, च, आत्मा सूर्यः), यह जङ्गम और स्थावर जगत् का आत्मा प्रकाशमय भगवान् (द्यावापृथिवी, अन्तरिक्षम् आप्रा) द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष लोक में सब ओर व्याप रहा है।

भगवन्! मैं अब देख रहा हूँ पर तब न देखा। आपकी दिव्य विभूतियों के झुण्ड ब्रह्माण्ड में विराजमान थे। ब्रह्माण्ड को देखता रहा पर उन्हें न देखा। चमकते हुए सूर्य को नित्य देखता रहा परन्तु उसमें चमकती हुई आप की ज्योति को न देखा। प्राण और अपान के खेलों को नित्य देखता रहा परन्तु उन सब खेलों के सूत्राधार प्राणों में ही विराजमान उन अनोखे नियन्ता को न देखा, द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष को अनेक बार देखा, परन्तु उन में सर्वत्र व्याप रही आपकी सत्ता को न देखा, मैं जङ्गम और स्थावर जगत् की अनेक गतिविधियों को निन्तर देखता रहा, परन्तु उन्हीं में विद्यमान उनकी सञ्चालक आत्मा को कभी न देखा। देख लेता यदि मेरी अपनी ही बनाई हुई भूलभूलैयां मुझे घेरे न होती। परन्तु देखता हूँ कि अब आप की गोद में आने पर उसका कहीं नाम भी नहीं; प्रभो अब आपके प्रदत्त नेत्रों से वह देखा जो कभी न देखा था।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।यजु० अ० ३६ मं० २४)

(तत्) वह (देवहितम्) विद्वानों अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों का हितकारक (चक्षुः) दर्शन-शक्तिरूप भगवान् (पुरस्तात्) यह मेरे सामने (शुक्रम्) शुभ्र निर्मल ज्योतिरूप (उच्चरत्) प्रकट हुआ है। हम इस परम ज्योति को (शरदः शतं पश्येम) सैंकड़ों शरत् देखते रहें, (शरदः शतं जीवेम) सैकड़ों शरत् यह ही अध्यात्म-जीवन जीते रहें, (शरदः शतं शृणुयाम) सैकड़ों शरत् इसी भगवान् का गुणानुवाद सुनते रहें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सैकड़ों शरत् इसी भगवान् का गुणानुवाद करते रहें, (शरदः शतम् अदीनाः स्याम) सैंकड़ों वर्ष इसी प्रकार स्वतन्त्र-आत्मनिर्भर बने रहें (भूयश्च शरदः शतात्) और सैकड़ों शरदों के बाद फिर भी इन्हीं परिस्थितियों में रहें।

मैं समझता था कि मेरे पास आँखें हैं और मैं सब कुछ देख रहा हूँ। आँखें मेरे पास थीं भी परन्तु अब पता लगा कि वे दिव्य आँखें न थीं। मैंने उनसे सूर्य को तो देखा था, उसके प्रकाश को भी देखा था, परन्तु सूर्य क्या

है ? किस चीज से बना ? कैसे बना ? किसने बनाया ? और क्यों बनाया ? इसमें यह प्रकाश किसका है ? इत्यादि अनेक प्रश्नों का उत्तर इन आँखों ने कभी न दिया। भगवन् जबसे आपकी यह दिव्य ज्योति मेरी आत्मा के सामने प्रकट हुई, तब से मैंने समझा कि यह ही तो वह ब्रह्मज्ञानी देवों का हितकारक दिव्य चक्षु है, जिसके बिना मैं वास्तविक नेत्रों से विहीन था। अब तो एक क्षण में ही मेरे उन सब प्रश्नों के उत्तर अपने आप मिल गये। भगवन् ! अब तो यह वर दें कि मैं इस दिव्यज्योति को चिरकाल तक देखता रहूँ, इसी अध्यात्म जीवन को निरन्तर चालू रक्खूँ, इसी की महिमा का श्रणव और गान करता रहूँ, आपकी गोद में ही स्वतन्त्र स्वाधीन रहूँ, और सैकड़ों नहीं उनसे भी आगे के अनेक वर्षों तक।

उपस्थान की विधि समाप्त हो जाने के बाद गायत्री मन्त्र के अर्थ स्मरणपूर्वक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करें, फिर—

समर्पणम्

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयानेन जपोपासनादिकर्मण धर्मार्थकाम-मोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।

हे ईश्वर दयानिधे ! हे करुणा के भण्डार भगवन् ! (नः धर्मार्थकाममोक्षणाम्) हमारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की (सद्यः-सिद्धिः भवेत्) शीघ्र सिद्धि हो, परन्तु वह (जपोपासनादिकर्मणा) जप उपासनादि कर्मों से और (भवत्कृपया) आप की कृपा से हो। तात्पर्य यह कि हम अपने जप-उपासादि कर्मों को आप के अर्पण केवल आपकी करुणा का प्रसाद ग्रहण करते हुए करते हैं। जो कि उन जप उपासना आदि कर्मों के धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष फल हैं वे सब आपकी करुणा में स्वयं ही ओत-प्रोत हैं, अतः समर्पण का उपहार करुणा तो स्वाभाविक ही है और कुछ नहीं मांगते।

ओ३म् भुर्भुवः स्व, तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

'ओम्' यह परमेश्वर का सर्वार्थवाचक नाम है। इस नाम की सिद्धि 'अ, उ, म्' इन तीन अक्षरों के योग से हुई है। अकार अक्षर के विराट्, अग्नि और विश्व ये तीन अर्थ माने गये हैं। विविध जगत् के प्रकाश करनेवाले को विराट्, ज्ञानस्वरूप तथा सर्वत्र प्राप्त होने वाले को अग्नि, और जो सब में प्रविष्ट है, और जिस में सब प्ररिष्ट हैं उसे विश्व कहते हैं। हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस ये तीन अर्थ उकार के हैं। हिरण्य, अमृत और कीर्ति ये ज्योति के नाम हैं। उसके गर्भ में सूर्य आदि प्रकाशमय लोक निवास करते हैं और सर्जन काल में उसी से प्रकट होते हैं इसलिए ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं। भगवान

अनन्तबलवाला और जगत् को धारण करनेवाला है इसलिए उसे वायु कहते हैं। प्रभु प्रकाशस्वरूप और सब का प्रकाशक है इसलिए उसे तैजस कहते हैं। ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञ ये तीन अर्थ मकार के हैं। भगवान् सब का अधीश और न्यायकारी है इसलिए उसे ईश्वर कहते हैं। वह सब का अग्रणी और नाशरहित हैं इसलिए उसे आदित्य कहते हैं। भगवान् ज्ञानस्वरूप और सबको जानने वाला है इसलिए उसे प्राज्ञ कहते हैं। ये ओ३म् अक्षर के अर्थ हुए।

व्याहृतियों के अर्थ निम्नलिखित हैं। (भूरिति वै प्राणः) भगवान् का नाम भूः इसलिए है कि वह प्राण हैं, अर्थात् सबके जीवन का हेतु और प्राणों से प्यारा है। (भुवरित्यपानः) भगवान् का भुवः नाम इसलिए है कि वह अपान है, अर्थात् भक्तों को दुःखों से बचानेवाला है। (स्वरिति व्यानः) भगवान् स्वरः इसलिए है कि वह व्यान है, अर्थात् सारे विश्व को अपने अन्दर प्रविष्ट कर नियम में रखनेवाला और सुखस्वरूप है।

गायत्री मन्त्र का अर्थ आगे पढ़िए—

(सवितुः) सबके उत्पादक और ऐश्वर्यों के दाता (देवस्य) सब आत्माओं को प्रकाशित करनेवाला भगवान् के (वरेण्यम्) सर्वथा ग्रहण करने योग्य (भर्गः) शुद्ध विज्ञानस्वरूप को (धीमहि) प्रेम और भक्ति से अपनी आत्मा में धारण करें उसी परमात्मा के स्वरूप को (यः) जो (नः धियः) हमारी बुद्धियों को (प्रचोदयात्) शुभ कर्मों में प्रवृत्त करे। हे विराट्, अग्नि और विश्व ! हे हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस ! हे ईश्वर आदित्य और प्राज्ञ ! हे प्राण ! हे अपान ! और हे व्यान ! हे सवितः ! और हे देव ! हम सर्वश्रेष्ठ और वरने योग्य आपके ज्ञान रूप परम ऐश्वर्य को ही आत्मा में धारण करते हैं, इसलिए कि हम उसे अपनी बुद्धि के निकट बैठाना चाहते हैं उसे अपनी बुद्धि का पहरेदार बनाना चाहते हैं। यह विज्ञान रूपी ऐश्वर्य का महासूर्य जहाँ चमक रहा होगा, बुद्धि की शक्ति कहाँ कि वह अन्धकार का कोई टेढ़ा मार्ग अपना सके। उसे तो अब इस महान् प्रकाश के साथ मिलकर इसके साथ और इसका हाथ पकड़े हुए, इसके पीछे-पीछे ही चलना पड़ेगा। पर प्रभो ! यह शुभ दिन तो मुझे तब ही देखने को मिलेगा, जब आप का यह महान् प्रकाश अथवा ऐश्वर्य मेरी आत्मा को अपना घर बना लेगा। अवश्य भेजो भगवान्। मैं प्रेम से, श्रद्धा से और भक्ति से आपकी उस अमर ज्योति का आह्वान करता हूँ, अपने उस ऐश्वर्य को अवश्य भेजो।

भगवान् की दी हुई विभूति से कृत-कृत्य होकर उपासक अब उसे बार-बार झुक कर प्रणाम करता है।

नमस्कार

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ।

(यजु० अ० १६ मं० ४१)

(नमः सम्भवाय च) हे कल्याण के उत्पत्तिस्थान भगवन् आपको नमस्कार हो। (मयोभवाय च) हे सुख के उत्पत्तिस्थान भगवन् आपको नमस्कार हो। (नमः शङ्कराय च मयस्कराय च) हे कल्याण के देनेवाले और सुख के देनेवाले भगवन् आप को नमस्कार हो, (नमः शिवाय च शिवतराय च) हे मङ्गलरूप और अत्यन्त मङ्गलरूप भगवान् आपको बार-बार नमस्कार हो।

प्रभो ! कल्याण, सुख, मङ्गल और अत्यन्त मङ्गलरूप मुक्ति यह सब कुछ आपकी कृपा से पा लिया। बहुत ढूँढ़ा परन्तु और किसी के पास यह सम्पत्ति थी ही नहीं, मिलती कहाँ से। प्रभो ! आपके पास थी और आप से ही मिली और मिली भी भर पेट। भगवन् ! आपको बार-बार नमस्कार हो।

॥ ओं शान्तिः ॥

ओ३म्

ओं नाम हियधार कर, इन्द्रियदमन, सुजान,
सन्ध्या मन्त्रों का करो कविता में अब गान।
तीन अकार भेद मुनि भाए, विश्व विराट् अग्नि कहलाए।
सब जग में प्रभु का है वासा, तात विश्व नाम मुनि भाषा।
सब जग में प्रकाश सिरजायो, एहि विधि नाम विराट् सुहायो।
ज्ञानरूप प्रभु मार्ग दिखावें, इसी हेतु वे अग्नि कहावें।
नाम हिरण्यगर्भ शुभ माने, तैजस, वायु उकार बखाने।
रवि शशि आदि देव प्रकटावे, तातें हिरण्यगर्भ कहावे।
अनन्त बल निदान प्रभु माना, वायु नाम इस हेतु बखाना।
तेजरूप अरु तेज भण्डारी, तातें तैजस प्रभु तिमिरारि।
ईश प्राज्ञ आदित्य गिनाए, मकार के ये अर्थ बताए।

●

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज कलकत्ता के संक्षिप्त विवरण एवं स्थायी क्रिया-कलाप

भारत के पूर्वाञ्चल में अनेकानेक धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र विन्दु आर्यसमाज कलकत्ता की स्थापना १८८५ में हुई, किन्तु इसके स्थापना की पूर्वपीठिका इससे १३ वर्ष पूर्व ही बन गयी थी जब १६ दिसम्बर १९७२ को स्वामी दयानन्द का कलकत्ता आगमन हुआ। स्वामी दयानन्द ब्रह्मसमाजियों को ऋषि मुनियों की विचार धारा से अलग होते देख रहे थे। उन्होंने निराकार ईश्वर का वर्णन, वेदों की महिमा, मूर्तिपूजा का खण्डन इत्यादि सभी धार्मिक स्थलों का स्पर्श किया और लोग स्वामी दयानन्द के मिशन से बहुत प्रभावित हुए। यह सब संचित प्रभाव परवर्ती काल में आर्य समाज की संचित निधि की तरह काम आया।

शिक्षा प्रचार

आर्यसमाज ने सारे देश में स्कूल, कालेज, कन्या पाठशाला, गुरुकुल इत्यादि का व्यापक बड़ा क्षेत्र बना लिया था। कम से कम कन्या और शूद्रों को शिक्षा देने में आर्यसमाज का प्रयास सर्वप्रथम और अद्वितीय रहा।

कलकत्ता इस विचारधारा से कैसे अछूता रह सकता था ? यहाँ के आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं के हृदय में शिक्षा की भावना बड़ी बलवती रही। उस समय कलकत्ता में ईसाई मिशन के स्कूल थे किन्तु हिन्दूसमाज में १०-१२ वर्ष की लड़कियों का विवाह अनिवार्य समझा जाता था। वहाँ लड़कियों के पढ़ने की बात उन्हें सीधा खीस्तान बनाने जैसी लगती थी। उस समय लड़कियों को शिक्षा देने की बात सोच ही कौन सकता था ? आर्यसमाज कलकत्ता के अधिकारियों में आर्य कन्या महाविद्यालय के संगठन के लिये दृढ़ भावना काम करने लगी थी।

स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की उसके १० नियम बनाये। उनमें अष्टम नियम है, अविद्या का नाश और विद्या की बृद्धि करनी चाहिए। नवम नियम है प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। तृतीय नियम है वेद सब सत्य

विद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना - पढ़ाना और सुनना - सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है । इन्हीं नियमों को एक साथ पढ़ने से विद्या का प्रचार, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति को बोध और वेद प्रचार आर्य समाज के नियमों में सम्मिलित है ।

आर्य कन्या महाविद्यालय की स्थापना

सन् १८८३ ई० में दीपावली के दिन जब स्वामी जी का देहान्त हो गया तो स्वामी दयानन्द के भक्तों के मन में उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने के लिये शिक्षणालय खोलने की बात आई थी । इसी क्रम में आर्य समाज कलकत्ता ने सन् १९०२ ई० में नाई टोला में कन्या विद्यालय खोला । आर्यसमाजी कार्यकर्ता, सेठ साहूकार दानी-दाता बहुमुखी प्रयास चला रहे थे । सन् १९०७ में आर्यसमाज के लिए भूमि ली गई । सन् १९१० ई० में आर्यसमाज का मन्दिर बना । इसी की एक कड़ी यह है कि १९०९ में कन्या विद्यालय का भवन खरीदा गया । सेठ श्री किशन लाल पोद्दार की सूचना के अनुसार सन् १९०९ ई० में कन्या विद्यालय का भवन बनाने के निमित्त एक सभा हुई जिसमें निम्न रूप से दानी सज्जनों ने दान की घोषणा की थी—

१)	श्री सेठ जुगल किशोर बिड़ला	२५००० रु०
२)	श्री सेठ छाजूराम चौधरी	२५००० रु०
३)	श्री सेठ जयनारायण पोद्दार	२५००० रु०
४)	श्री तुलसीदत्त	२५००० रु०

विद्यालय की लड़कियों ने एक ऐसा गीत प्रस्तुत किया जिससे सेठ श्री छाजूराम चौधरी ने घर जाकर २५,०००) की राशि को ५०.०००) कर दिया । सेठ श्री जुगल किशोर बिड़ला ने उक्त राशि के अतिरिक्त ७५.०००) देकर रानी बिड़ला की स्मृति में २० नं० विधान सरणी स्थित प्रसिद्ध आर्य कन्या महाविद्यालय का भवन बनवाया । कन्या विद्यालय के पृष्ठ भाग में जो भवन बना है उसके निर्माण में सेठ श्री गुरु प्रताप पोद्दार ने सेठ रघुमल चैरिटी ट्रस्ट से ७५,०००) दिलवाने का प्रशंसनीय कार्य किया । श्री गुरु प्रताप पोद्दार रघुमल चैरिटी ट्रस्ट के ट्रस्टी थे और उनके प्रयत्न से ही इस राशि का मिलना सम्भव हो सका था । मकान का स्वामी आर्य महिला शिक्षा मण्डल ट्रस्ट हैं । ट्रस्ट ने भवन में विद्यालय चलाया । इस समय आर्य कन्या महाविद्यालय माध्यमिक विभाग में लगभग ९५० छात्राएँ ४० अध्यापिकाएँ हैं तथा महर्षि दयानन्द कन्या विद्यालय जिसकी स्थापना १९८० में हुई इसी भवन

में चलता है जिसमें लगभग २०० छात्राएँ एवं १५ अध्यापिकाएँ हैं।

आर्य महिला शिक्षा मण्डल ट्रस्ट

आर्य महिला शिक्षा मण्डल ट्रस्ट कलकत्ता कन्या विद्यालय की उन्नति के लिये, साथ ही महिलाओं में बहुविधि शिक्षा प्रचार करने की दृष्टि से २४ सितम्बर १९३६ ई० को आर्य महिला शिक्षा मंडल ट्रस्ट के नाम से रजिस्ट्री करायी गयी। इस ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य कन्या विद्यालय को अच्छी तरह संचालित करना था। जिन व्यक्तियों ने मण्डल का निर्माण किया था उनके नाम हैं—

१. सर छाजूराम जी चौधरी, २. रायबहादुर रलाराम, ३. सेठ जुगल किशोर जी बिड़ला, ४. सेठ नागरमल जी मोदी, ५. सेठ दीपचन्द्र जी पोद्दार, ६. लाला हंसराज गुप्त एम० ए०, बी० एल०, ७. श्री हरगोविन्द जी गुप्त इन आजीवन ट्रस्टी के अलावा ३ वर्षों के लिए मण्डल का ७ सदस्य आर्य समाज कलकत्ता द्वारा निर्वाचित होते हैं तथा मंत्री और प्रधान पदेन इस ट्रस्ट के सदस्य हैं। इस प्रकार वर्तमान में इस ट्रस्ट के आजीवन ट्रस्टी इस प्रकार हैं—श्री सेठ विश्वनाथ पोद्दार, श्री गजानन्द आर्य, श्री उमाकान्त उपाध्याय, श्री सीताराम आर्य, श्री देवीप्रसाद मस्करा, श्री रूलिया राम गुप्त, श्री ओमप्रकाश मस्करा एवं श्री छबीलदास सैनी सभी ट्रस्ट के आजीवन ट्रस्टी हैं। वर्तमान में इस ट्रस्ट के प्रधान श्री विश्वनाथ पोद्दार और मंत्री श्री ओमप्रकाश मस्करा हैं।

आर्य कन्या महाविद्यालय माध्यमिक की प्रबन्ध समिति में इस समय श्री सीताराम आर्य अध्यक्ष, श्री राजेन्द्रप्रसाद जायसवाल मंत्री एवं श्रीमती अंजना दूबे पदेन संयुक्त मंत्री हैं। सदस्यगण श्री विश्वनाथ पोद्दार, श्री छबीलदास सैनी, प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, श्री रामस्वरूप खन्ना, श्री सुखदेव शर्मा, डा० अतुल नारायण, श्री उपेन्द्रनाथ राय, श्रीमती संध्या चटर्जी एवं श्रीमती सन्तोष मेहरोत्रा हैं।

आर्य कन्या महाविद्यालय (प्राथमिक विभाग)

आर्य कन्या महाविद्यालय प्राथमिक विभाग में १७ अध्यापिकाएँ एवं लगभग ५५० छात्राएँ हैं इसमें प्रथम से चतुर्थ श्रेणी तक की शिक्षा दी जाती है जिसमें वैदिक धर्म शिक्षा, संगीत, आवृत्ति खेलकूद एवं चित्रकला की भी शिक्षा दी जाती है। शिक्षा के माध्यम हिन्दी और बंगला हैं। इस समय हिन्दी विभाग में लगभग ४०० और बंगला विभागं में १५० छात्राएँ हैं। प्राथमिक विभाग की प्रबन्ध समिति में श्री सीताराम आर्य अध्यक्ष, राजेन्द्रप्रसाद जायसवाल

मंत्री एवं श्रीमती सरोजनी शुक्ला, अंजलि मित्रा, प्रो० उमाकान्त उपाध्याय सदस्य एवं श्रीमती मनोरमा बनर्जी शिक्षक इन्चार्ज हैं । माध्यमिक और प्राथमिक दोनों विभाग सरकारी सहायता प्राप्त है तथा दोनों विभागों में वैदिक शिक्षा दी जाती है ।

रघुमल आर्य विद्यालय

इस विद्यालय की स्थापना १९३६ ई० में की गई । इसका आरम्भिक नाम आर्य विद्यालय है । कन्याओं की शिक्षा की महत्ता को ध्यान में रखकर आर्य समाज के नेताओं कार्यकर्ताओं ने कन्या विद्यालय की स्थापना १९१२ में ही कर दी थी । बालकों के लिए विद्यालय का अभाव न था । किन्तु एक न्यूनता अवश्य ही खटकती थी । विशेष रूप से अछूत कहे जाने वाले वर्ग, के बच्चों के लिए कोई विद्यालय न था । आर्यसमाज वर्ण व्यवस्था गुण-कर्म स्वभाव से मानता है । जन्म से नहीं अतः आर्य समाजियों की निगाह में छूत अछूत का मसला केवल इस रूप में था कि अछूतों को कैसे वृहद् हिन्दू समुदाय का अंग बना लिया जाय । इन्हीं सब उद्देश्यों की भूमिका में सन् १९३६ ई० में आर्य विद्यालय की स्थापना हुई । इसकी स्थापना में इन सज्जनों का सहयोग रहा । १. श्री विष्णुदास जी बंसल, २. सेठ दीपचन्द पोद्दार, ३. हरगोविन्द गुप्त, ४. पं० श्री विद्या प्रसादजी, ५. श्री मूलचन्द अग्रवाल, ६. श्री किशनलालजी पोद्दार, ७. श्री लक्ष्मी प्रसाद जी ।

विद्यालय की प्रबन्धकारिणी समिति के अध्यक्ष श्री देवकीनन्दन पोद्दार एवं मंत्री श्री राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल तथा प्रबन्ध समिति के अन्य सदस्य है, श्री सुखदेव जी शर्मा प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, श्री रामवृक्ष सिंह, श्री ताराशंकर तिवारी, श्री गोरख प्रसाद जायसवाल, श्री राधेश्याम जायसवाल, डा० अतुल नारायण, श्री विश्वनाथ जी पोद्दार एवं श्री रामचन्द्र सिंह यादव । इस समय विद्यालय में लगभग ६०० छात्र एवं १२ अध्यापक हैं ।

आर्य विद्यालय ट्रस्ट

विद्यालय के वर्तमान भवन जो ३३ सी, मदन मित्रा लेन में है, उसके इस स्वरूप में लाने का श्रेय जहाँ आर्य विद्यालय ट्रष्ट के उत्साही सदस्यों को है वहीं इसमें रघुमल टैरिटी ट्रस्ट के आदर्श दान का बड़ा महत्व है जो सेठ किशनलाल पोद्दार की सूझ बूझ एवं दूरदर्शिता से सम्भव हो सका था । आर्य विद्यालय ट्रस्ट के वर्तमान ट्रस्टी हैं । १—श्री विश्वनाथ पोद्दार, प्रधान २—श्री

देवकीनन्दन पोद्दार, मन्त्री ३—श्री राजेन्द्रकुमार पोद्दार, ४—श्री नन्दलाल कानोड़िया, ५—श्री देवीप्रसाद मस्करा, ६—श्री सीताराम आर्य, ७—श्री रुलियाराम गुप्त। दो स्थान रिक्त है।

रघुमल आर्य विद्यालय (प्राथमिक विभाग)

प्राथमिक विभाग में इस समय लगभग ४०० छात्र एवं ८ अध्यापक हैं। विद्यालय ७४, आमहर्स्ट रो में दिन के समय एवं ३३ सी मदन मित्रा लेन में प्रातः चलता है। माध्यमिक एवं प्राथमिक दोनों विभाग को सरकारी सहायता प्राप्त है। दोनों विभाग में वैदिक धर्म की शिक्षा दी जाती है। और प्रत्येक शनिवार को सामूहिक यज्ञ होता है एवं समय-समय पर विद्वानों के प्रवचन भी कराये जाते हैं।

क्रान्ति केन्द्र

आर्य समाज मन्दिर : आर्य समाज कलकत्ता की भूमि स्वदेशी आन्दोलन की भूमि रही है। यहाँ लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल जैसे स्वदेश भक्त क्रान्तिकारी राष्ट्रीय नेताओं के व्याख्यान हो चुके हैं। यह मन्दिर-निर्माण के पूर्व का इतिहास है। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अमर शहीद भगत सिंह दो - दो बार कलकत्ता प्रवास के दौरान आर्य समाज मन्दिर में केवल ठहरे ही नहीं थे वरन् यहाँ पर इस पवित्र वेद मन्दिर में क्रान्तिकारी न केवल निवास की दृष्टि से अपने को निरापद समझते थे अपितु कई-कई क्रान्तिकारी एक साथ इकट्ठे होकर क्रान्ति के कुछ कार्यों की योजना भी बनाते थे।

सहायता कार्य

१९३४ के बिहार के भूकम्प, १९४२ के मिदनापुर के समुद्री तूफान, बंगाल का अकाल, पूर्वी बंगाल का दुर्भिक्ष, साम्प्रदायिक दंगे में नोआखाली और त्रिपुरा में सहायता केन्द्र खोलना, हावड़ा स्टेशन पर शरणार्थी शिविर विलोनियाँ में केन्द्र खोलना एवं आर्यसमाज रिलीफ सोसायटी की स्थापना, पूर्वी बंगाल विस्थापितों की सहायता इत्यादि सहायता कार्य से आर्य समाज कलकत्ता का इतिहास भरा है। दिनांक २९-११-८९ को पण्डित प्रियदर्शन जी के निर्देशन में दिनाजपुर जिले के बाढ़ पीड़ितों में १६७ कम्बल बाँटे गये। काश्मीर विस्थापित सहायता में १२०००) की राशि, निःशुल्क नेत्र चिकित्सा के लिए १५०००) तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के लिए ५०००) के राशि दी गई तथा उत्तर काशी भूकम्प सहायता में ५०००) सदस्यों से

५०००) आर्यसमाज एवं ५०००) आर्य समाज रिलीफ सोसायटी से दिया गया गुरुकुल वैदिकाश्रम राउरकेला को ५०००) गुरुकुल आम सेना को ५०००) तथा गुरुकुल चण्डीपुर को ७००) प्रतिमाह दिया गया। गत वर्ष मिदनापुर जिले में तूफान पीड़ितों की राहत सामग्री का स्थानीय आर्यसमाजों के तत्वावधान में आर्यसमाज, मिदनापुर के सहयोग से वृहद रूप से वितरण किया गया। स्टेन लेस स्टील के बर्तन, कपड़े, दवाइयाँ, खाद्य पदार्थों का वितरण आर्य सदस्यों के उपस्थिति में श्री ओमप्रकाश विद्यावाचस्पति के नेतृत्व में हुआ। तथा इस वर्ष उड़ीसा के चक्रवातची महाविनाशी तूफान में भी बर्तन कपड़े दवाइयां एवं खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में वहाँ सहायता हेतु भेजी गई एवं आर्य समाज के स्वयं सेवकों द्वारा वितरित की गई। **कारगिल युद्ध :—**पाकिस्तान द्वारा थोपे गये कारगिल युद्ध में ५१०००) की सहायता राशि प्रधानमंत्री कोष में भेजा गया।

गंगासागर सेवा शिविर

इस साल हवड़ा आर्य समाज के गंगासागर सेवा शिविर में आर्य समाज कलकत्ता व आर्य स्त्री समाज कलकत्ता का विशेष सहयोग हुआ। बहुत संख्या में धार्मिक पुस्तकों को वितरण बहुत अच्छी मात्रा में हजारों की संख्या में हुआ। इससे आर्य समाज व वैदिक सिद्धान्तों का विशेष प्रचार हुआ।

विद्यार्थी सहायता, उपदेशक सहायता

आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा विद्यार्थी सहायता, वैदिक धर्म के प्रचारक एवं उपदेशक सहायता, महिला कल्याण इत्यादि पर प्रचुर व्यय किया जाता है।

निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर

आर्यसमाज कलकत्ता पिछले १० वर्षों से आर्य समाज मन्दिर १९, विधान सरणी, कलकत्ता-६ में निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर का सफलतापूर्वक आयोजन करता रहा है, जिसमें मोतिया बिन्द का आपरेशन शहर के कुशल नेत्र शल्य चिकित्सकों द्वारा किया जाता है। शिविर के प्रधान सर्जन डा० श्यामसुन्दर हरलालका डा० नारायण चौधरी, डा० गोपाल प्रसाद चौरसिया, डा० रजनी सर्राफ तथा अन्य सहयोगियों में श्री विमल मिश्रा सुखदेव शाह का पूरा-पूरा सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहता है।

शिविर में शहर के अलावा सुदूर ग्रामांञ्चलों से भी रोगियों को यहाँ लाकर उन्हें भी मुक्त आपरेशन की सुविधा दी जाती है। प्रतिवर्ष ६० से ७० रोगियों

का सफलता आपरेशन करने के साथ ही उन्हें अन्य सुविधायें मुफ्त दी जाती है। सर्वप्रथम रोगियों को रक्तचाप, मधुमेह तथा अन्य शारीरिक जांच करके रोगियों की भर्ती की जाती है। शिविर में भोजन, दूध, फल दवाइयां की सुविधा के साथ-साथ शिविर के पश्चात् उन्हें चश्में आदि भी मुफ्त उपलब्ध कराये जाते हैं।

त्रयोदश निःशुल्क नेत्र शल्य चिकित्सा शिविर '१९९९ ई०

(माइकोसर्जरी द्वारा)

आर्य समाज कलकत्ता की युवा शाखा द्वारा १३वाँ निःशुल्क नेत्र शल्य चिकित्सा शिविर (माइक्रोसर्जरी द्वारा) दिनांक ९ जनवरी २००० को सम्पन्न हुआ। डा० रजनी सर्जरी द्वारा) दिनांक ९ जनवरी २००० को सम्पन्न हुआ। डा० रजनी सर्राफ के निर्देशन में शहर सुप्रसिद्ध डाक्टरों की टीम ने आपरेशन का कार्यभार सम्पन्न हुआ। इस कैम्प में मोतियाबिन्द के सत्तर आपरेशन हुए। सारे माइक्रोसर्जरी द्वारा हुए। आर्य समाज कलकत्ता की युवाशाखा ने आर्यसमाज कलकत्ता एवं दानीदाताओं के सहयोग से सम्पूर्ण खर्च को वहन किया।

कैम्प का उद्घाटन इस वर्ष विधायक श्री देवकीनन्दन पोद्दार द्वारा किया गया। इस कैम्प के संयुक्त शिविर सचिव श्री अजय गुप्ता एवं श्री मदनलाल सेठ तथा संयुक्त शिविर प्रभारी श्री कृष्णकुमार जायसवाल एवं श्री अजय सेठ हैं। युवाशाखा के अधिष्ठाता श्री अशोक सिंह द्वारा धन्यवाद ज्ञापन करते हुए भविष्य की योजनाओं में सहयोग के लिये युवा साथियों को आह्वान किया।

४–नेत्रालय विभाग – आर्यसमाज कलकत्ता के युवा शाखा के तत्वावधान में प्रति सोमवार को समय १० से ११ बजे प्रातः को दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के नेत्रालय विभाग में डा० सौमिक घोष द्वारा निःशुल्क नेत्र परीक्षण एवं चिकित्सा की जाती है।

इसके अतिरिक्त आर्य समाज कलकत्ता की युवा शाखा आर्य समाज कलकत्ता द्वारा आयोजित समस्त कार्यक्रमों में सहयोग प्रदान करते हुए महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करती रहती है।

श्रावणी पर्व एवं वेद सप्ताह सम्पन्न :

श्रावणी एवं वेद सप्ताह ८-८-९९ से १४-८-९९ (श्रावणी पूर्णिमा से श्रीकृष्ण जन्माष्टमी तक प्रतिवर्ष की भाँति समारोह उत्साहपूर्वक मनाया गया। प्रातःकाल ७ से ९ बजे तक ऋग्वेद पारायण वृहद् यज्ञ एवं सायं ७ से ९ तक भजन कीर्तन एवं वेद कथा का आयोजन किया गया। विषय था—कल्याण

का पथ और कथाकार—आचार्य उमाकान्त उपाध्याय ।

अन्तर्विद्यालय देश-भक्ति प्रतियोगिता — पं० रामप्रसाद विस्मिल जन्म शताब्दी वर्ष पर आर्य समाज कलकत्ता (युवा शाखा) द्वारा आयोजित की गयी । १५ अगस्त के पावन दिवस पर इस वर्ष का यह विशेष आयोजन समर्पित था स्वाधीनता संग्राम के अग्रणी योद्धा, आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रबल अनुयायी तथा महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त अमर शहीद पं० रामप्रसाद विस्मिल को । कार्यक्रम के रूप में प्रातः ९-३० यज्ञ, १० बजे ध्वजोत्तोलन, १०.३० पं० रामप्रसाद विस्मिल को श्रद्धांजलि, ११ बजे अन्तर्विद्यालय देश भक्ति गीत प्रतियोगिता जिसमें कलकत्ता महानगर के लगभग १५ विद्यालयों के छात्र-छात्राओं ने भाग लिया तथा अन्त में पुरस्कार वितरण किया गया । कार्यक्रम के अध्यक्ष थे प्रो० उमाकान्त उपाध्याय एवं कार्यक्रम का संचालन श्री अशोक सिंह ने किया ।

वेद सप्ताह के व्याख्यान के विषय सात वेद मंत्रों पर आधारित थे एवं आचार्य पं० उमाकान्त उपाध्याय, ने बड़ी सुन्दर व्याख्या के माध्यम से इस वेद सप्ताह पर वेद का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने का सुन्दर प्रयास किया । इस व्याख्यान सप्तक की लघु पुस्तिका आर्य समाज कलकत्ता ने छपा रखी थी तथा प्रत्येक श्रोता को उपलब्ध थी जिसमें वेद मन्त्र, भावार्थ एवं विचार बिन्दु प्रदर्शित किया गया था । श्री अशोक सिंह जी के प्रयास एवं परिश्रम से प्रत्येक दिन का व्याख्यान सारांश दैनिक पत्रों में प्रकाशित होता रहा है । इन व्याख्यानों का कैसेट भी प्रचारार्थ बनवाया गया ।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी

पर्व १४-८-९९ को आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान श्री लक्ष्मण सिंह की अध्यक्षता में प्रातः १० से १२ बजे मनाया गया । इसके पूर्व ९ दिवसीय वेद पारायण पूर्णाहुति सम्पन्न हुई । श्री कृष्णजी के जीवन चरित पर प्रकाश डालने वालों में सर्वश्री पं० देवनारायण तिवारी, पं० रामनरेश शास्त्री, पण्डित उमाकान्त उपाध्याय, श्री महिपाल सिंह, श्री मनीराम आर्य, श्री चांद रतन दम्माणी, आचार्य ब्रह्मदत्त प्रमुख थे कार्यक्रम का संचालन आर्यसमाज कलकत्ता के मंत्री श्री श्रीराम आर्य कर रहे थे ।

पुस्तकालय एवं वाचनालय विभाग

आर्य समाज मन्दिर में प्रवेश करते ही दक्षिण पार्श्व में समाज का अपना वाचनालय है जिसके खुलने का समय प्रातः ८ से १२ बजे तक तथा सन्ध्या ४ से ८ बजे तक है । वाचनालय में देश में प्रकाशित विविध भाषाओं के समाचार पत्रों एवं सांस्कृतिक पत्रिकाओं की सुव्यवस्था है ।

पुस्तकालय में सहस्रों पुस्तकें हैं। इनकी सूची समय-समय पर बनती सुधरती है। आर्य समाज में आरम्भ से ही पुस्तकालय रहा है। इसमें महत्वपूर्ण पुस्तकें क्रय करके दी जाती रही है। सदस्यों को पढ़ने के लिए पुस्तकें देने का अलग रजिस्टर है जिसमें सदस्यों की दी जाने वाली पुस्तकें इत्यादि अङ्कित कर दी जाती है।

इस विभाग में आज जो पुस्तकें आती है, नूतन साहित्य आर्य सदस्यों को उपलब्ध होता रहता है। आर्य समाज हजारों रुपयों का विनियोग पुस्तकों को खरीदने में करता है। इस वर्ष श्री अच्छेलाल जायसवाल पुस्तकाध्यक्ष एवं श्री हीरालाल जायसवाल उप-पुस्तकाध्यक्ष है।

साप्ताहिक सत्संग

(१) रविवारीय साप्ताहिक सत्संग। (२) बाल सत्संग। (३) आर्य स्त्री समाज कलकत्ता महिला सत्संग।

महर्षि दयानन्द दातव्य औषधालय

महर्षि दयानन्द दातव्य औषधालय का प्रारम्भ प्रसिद्ध आर्य महोपदेशक ठाकुर अमर सिंहजी एवं महात्मा अमर स्वामी) के कलकत्ता में १९५९ में प्रचारार्थ आने के समय से सम्पन्न कराये गये कुछ कुछ कार्यों में एक है। ठाकुर अमर सिंह आयुर्वेद के कुशल जानकार थे। उस समय आर्यसमाज के कार्यालय का भार श्री दिनेश चन्द्र शर्मा पर था। इस प्रकार ठाकुर अमर सिंहजी और आयुर्वेद भास्कर श्री दिनेशजी शर्मा दोनों औषधालय के लिए सोने में सुहागा सिद्ध हुए। इनके सहयोग में श्री अमृतनारायण झा सहायक का कार्य करने लगे। आर्यसमाज भवन में प्रवेश करते समय बायीं ओर दातव्य औषधालय की व्यवस्था का भार आर्यसमाज के किसी वरिष्ठ अधिकारी कार्यकर्ता पर रहता है। श्री छबीलदास सैनी, श्री रुलियाराम गुप्त, औषधालय की व्यवस्था और आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहयोग करते रहते हैं। औषधालय के वार्षिक विवरण को देखने से पता चलता है कि वर्ष में लगभग ३०,००० रोगियों की चिकित्सा की गयी। प्रतिदिन रोगियों की संख्या लगभग ८० रहती है। औषधालय पर वार्षिक व्यय ४६,९०० के लगभग आता है, वर्तमान में औषधालय चिकित्सक कविराज श्री अमृतनारायण झा है। वे सूझ बूझ और लगन के साथ अधिकांश औषधियों का निर्माण आर्यसमाज मन्दिर में ही करते हैं। अधिकारियों में श्री छबीलदास सैनी औषधालय की व्यवस्था करते हैं। और दयानन्द धर्मार्थ औषधालय वर्ष १९९९-२००० ई० में रोगियों की संख्या २३६०० है। दैनिक उपस्थिति ७५ से ८० रहती है। इस वर्ष आय लगभग ५०००) और व्यय लगभग ३००००) है। मंहगाई के कारण दानी

महानुभावों का सहयोग नितान्त आवश्यक है । हर्ष की बात है कि इस वर्ष से हमारे दातव्य औषधलाय में होमियोपैथिक विभाग भी जन सामान्य की सेवा में खोल दिया है । जिसकी देख-रेख डॉ० स्वपन कर तथा डॉ० हरिशंकर ठाकुर दो डाक्टर बड़ी कुशलता से कर रहे हैं इसमें भी प्रतिदिन अनुमानतः २०-२५ रुग्ण आतुर आकर सेवा का लाभ उठाते हैं । एक्यूप्रेशर द्वारा चिकित्सा डा० प्रेम शंकर जायसवाल सोम, बुध, शुक्रवार सायं ६ से ९ का कार्यक्रम इस वर्ष से प्रारम्भ किया गया है ।

रविवारीय साप्ताहिक सत्संग

आर्य समाज कलकत्ता के प्रमुख साप्ताहिक सत्संग में प्रत्येक रविवार को प्रातः यज्ञ पं० नचिकेता भट्टाचार्य के सान्निध्य में प्रातः ८ बजे से ९ तक होता है । सन्ध्या, हवन और भजन के साथ सत्यार्थ प्रकाश की कथा और फिर प्रमुख आध्यात्मिक उपदेश का कार्यक्रम रहता है । पुरुष, महिलायें सब मिलकर १५०-२०० तक की उपस्थिति रहती है । इस समय सत्यार्थ प्रकाश की कथा का भार पण्डित रामनरेश शास्त्री जैसे स्वाध्यायशील, परम विद्वान् सिद्धान्त मर्मज्ञ के ऊपर है । आध्यात्मिक उपदेशों की कड़ी में व्याख्यान का भार पण्डित उमाकान्त उपाध्याय के ऊपर है । आर्यसमाज के अधिकारियों को इस बात का संतोष है कि विश्व विश्रुत विद्वान् पण्डित अयोध्या प्रसाद जी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान पण्डित सुखदेवजी विद्यावाचस्पति, आचार्य पण्डित रामाकान्त जी शास्त्री की कड़ी में पण्डित उमाकान्त जी जैसे विद्वान प्रमुख व्याख्यान के लिए उपलब्ध हो गये हैं । पण्डित उमाकान्त उपाध्याय के व्याख्यान की अपनी अलग शैली है । गहन से गहन दार्शनिक बातों को भी बड़ी सहजता से अपने श्रोताओं में उतार देते हैं । बहुत से लोग तो केवल पण्डित जी के व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं । आजकल कठोपनिषद मन्त्रों की व्याख्या चल रही है ।

बाल सत्संग

आर्यसमाज कलकत्ता अल्पवयः बालक-बालिकाओं में धार्मिक भावना के प्रचार की दृष्टि से बालक-सत्संग का आयोजन करता है । वर्षों से यह कार्यक्रम पंडित प्रियदर्शनजी सिद्धान्त भूषण के सान्निध्य में होता था । उनके स्वर्गवास के बाद अब प्रसिद्ध विद्वान देवनारायण तिवारी बच्चों को संध्या अग्निहोत्र, भजन इत्यादि सिखाते हैं । इन्हीं से अभ्यास कराते हैं । बच्चों में पुरोगम पर्याप्त प्रिय है । वार्षिकोत्सव के समय बच्चों के इस प्रोग्राम का सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन होता है, और उन्हें पुरस्कार भी दिया जाता है । बच्चों की संख्या बढ़ते रहना भी स्वाभाविक है किन्तु औसत में पचास के लगभग बच्चे इस कार्यक्रम में भाग लेते हैं ।

आर्य स्त्रीसमाज कलकत्ता

आर्य स्त्रीसमाज की स्थापना सन् १९५२ ई० में हुई । माता विद्यावती सभरवाल, श्रीमती वीरांबली मनचन्दा आदि ने उत्तर कलकत्ता की महिलाओं के लिये आर्यसमाज कलकत्ता में आर्य स्त्रीसमाज की स्थापना कर डाली । वर्त्तमान मे आर्य स्त्रीसमाज के सदस्यों की संख्या लगभग ५० है । श्रीमती कमला अरोड़ा इसकी प्रधान तथा श्रीमती सुमना आर्या इसकी मन्त्रिणी हैं ।

महिला सत्संग

आर्य समाज कलकत्ता का महिला सत्संग प्रत्येक बुधवार को अपराह्न में लगा करता है । संध्या, हवन, भजन, कथा, उपदेश आदरणीय पं० नचिकेता जी के देखरेख में सम्पन्न होते हैं ।

बंगला साहित्य प्रचार

आर्यसमाज कलकत्ता के सिद्धान्तों एवं वैदिक धर्म प्रचारार्थ आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा समय-समय पर बंगला पुस्तकों का प्रकाशन एवं वितरण किया जाता है । इसके अतिरिक्त और भी लघु पुस्तिका (ट्रैक्ट) का प्रकाशन होता रहता है । पूना प्रवचन (उपदेश मंजरी) का बंगला अनुवाद एवं आर्याभिविनय दयानन्द चरित का बंगला अनुवाद पण्डित प्रियदर्शन जी सिद्धान्त भूषण द्वारा अनुवादित आर्यसमाज कलकत्ता का इतिहास बंगला भाषा में छप चुका है । वैदिक अनुसंधान ट्रस्ट द्वारा सत्यार्थ प्रकाश बंगलानुवाद का द्वितीय संस्करण छप रहा है । जिसमें पण्डित प्रियदर्शन जी ने विशेष श्रम करके इसे अधिक परिष्कृत किया था । इस दिशा में अभी पं० नचिकेताजी कुछ पुस्तकों का अनुवाद तथा प्रकाशन में व्यस्त हैं । इस वर्ष पुस्तक मेले के अवसर पर यथार्थता, आमरा आर्य, वेदपरिचय, आर्यो उद्देश्य रत्नमाला, समाज विप्लव, प्राणायाम विधि आदि पुस्तकें बंगला भाषा में पुनः प्रकाशित हुई, जिनका श्रेय पं० नचिकेताजी को है जिनके अथक प्रयास से यह कार्य सम्भव हो सका ।

साहित्यिक कार्य

आर्यसमाज कलकत्ता ने प्रारम्भ से ही पर्याप्त साहित्यिक कार्य किया । प्रारम्भ में श्री गोविन्दराम हासानन्द जी आर्यसमाज के पुस्तकाध्यक्ष और मंत्री के पदों पर थे । उस समय ही साहित्यिक सेवा का कार्य प्रारम्भ हुआ वह निरन्तर बढ़ता ही गया । पं० अयोध्या प्रसाद पं० सुखदेव विद्यावाचस्पति, पं० रमाकान्त शास्त्री, ठाकुर अमर सिंह आर्य पथिक एवं पं० प्रियदर्शन द्वारा अनेकानेक साहित्य का सृजन किया गया । पं० उमाकान्त का साहित्यिक कार्य

''आर्य संसार'' के सम्पादन से आरम्भ होता है। इनके द्वारा लिखित पुस्तकें आर्यसमाज कलकत्ता से प्रकाशित हुई जिसमें भगवान श्रीकृष्ण, श्रावणी उपाक्रम, मूर्तिपूजा समीक्षा, अर्थशौच, आर्य समाज का परिचय, वेदों में गोरक्षा या गोवध, हन्सामत की मिथ्या वाणी, कम्युनिज्म के मोर्चे पर स्वामी दयानन्द, श्राद्धतर्पण, वेद में नारी, काशी शास्त्रार्थ : समीक्षा प्रमुख हैं। डा० योगेन्द्र कुमार शास्त्री का त्रैतवाद का उद्भव और विकास का प्रकाशन आर्य समाज कलकत्ता द्वारा किया गया। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में आर्यसमाज की देन प्रमुख स्थान रखता है। 'आर्य संसार' के विशेषांक के रूप में 'आनन्द-संग्रह एवं स्वामी नित्यानन्द के 'व्याख्यान माला' ग्रन्थ प्रकाशित हुए। बंगला भाषा एवं देवनागरी लिपि में मूल लेखक सत्यबन्धु दास द्वारा लिखित श्री दयानन्द चरित का बंगला एवं हिन्दी अनुवाद विशेषांक की कड़ी के रूप में प्रकाशित हुआ तथा तदनन्तर आर्य संसार के विशेषांक के रूप में धर्म का आदि श्रोत प्रकाशित हुआ था। गत वर्ष स्वामी दयानन्द सरस्वती का राजनीति दर्शन प्रकाशित हुआ है। इस वर्ष T.L. वासवानी लिखित Torch Bearer एवं प्रो०उमाकान्त उपाध्याय द्वारा लिखित ''व्यतीत के यश की धरोहर'' एवं स्वामी सर्वदानन्द के व्याख्यानों का संग्रह ''आनन्द-संग्रह'' का प्रकाशन किया गया। इसी कड़ी में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखित धर्मवीर पं० लेखराम का जीवन चरित प्रकाशित हुआ। महात्मा नारायण स्वामी सरस्वती का उपनिषद् रहस्य विशेषांक में ईश केन एवं प्रश्न उपनिषदों की सारगर्भित व्याख्या छपी है। गत वर्ष वार्षिक विशेषांक के रूप में श्री स्वामी सत्यानन्द लिखित ''सत्य उपदेश माला'' का पुनः द्वितीय बार प्रकाशन हुआ। गत वार्षिकोत्सव पर विशेषांक के रूप में स्वामी ज्ञानाश्रम लिखित संकल्प सिद्धि प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित 'मेरे पिता' का प्रकाशन किया गया। गत वर्ष वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के व्याख्यानों का संग्रह ''आनन्द संग्रह'' का पुनः प्रकाशन हुआ। गत वर्ष पं० गुरुदत्त लेखावली नामक अलभ्य पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इस वर्ष संध्या रहस्य एवं संध्या अष्टाङ्ग योग नामक अलभ्य पुस्तक का प्रकाशन हुआ।

आर्य संसार मासिक पत्र

आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा मासिक पत्र का प्रकाशन पं० उमाकान्त उपाध्याय के सम्पादकत्व में होता है। यह व्यवसायिक पत्रिका नहीं है। इसका मूल्य नाम मात्र है। इसके प्रकाशन के पीछे अपने सहयोगियों से सम्पर्क स्थापित रखने के साथ ही सैद्धान्तिक रूप में कुछ सेवा करनी है। साहित्य सेवा की दृष्टि से आर्य समाज कलकत्ता ने विभिन्न अनुपलब्ध साहित्य का प्रकाशन किया। इसका प्रकाशन नियमित रूप से १९५८ ई० से हो रहा है।

इसी कड़ी में स्वामी ज्ञानाश्रम सरस्वती लिखित 'संकल्प सिद्धि' प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित 'मेरे पिता' एवं पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित ''भागवत कथा'' का प्रकाशन विशेषांक के रूप में हुआ। गत वर्ष आनन्द संग्रह का पुनः प्रकाशन हुआ। इस वर्ष विशेषांक के रूप में पं० गुरुदत्त लेखावली नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है।

विद्यार्थी सहायता

आर्यसमाज कलकत्ता विद्यार्थी सहायता के मद में प्रायः विद्यालयों एवं गुरुकुलों में पढ़ने वालों छात्रों को अपना सहयोग देता रहता है। वर्त्तमान में उड़ीसा के पानपोष स्थित गुरुकुल को आर्यसमाज द्वारा सहयोग दिया जा रहा है। दयानन्द कन्या गुरुकुल, आर्य गुरुकुल दयानन्द वाणी श्री उद्यान मधुबनी को, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय चोटीपुरा को छात्रवृत्ति दी जाती है।

पेय जल सेवा

विगत कई वर्षों से आर्यसमाज मन्दिर के समाने आर्यसमाज कलकत्ता के संरक्षण में श्रीमती महादेवी चैरीटेबुल ट्रस्ट की ओर से एक सुन्दर प्याउ चल रहा है।

विजयादशमी और दीपावली पर्वोत्सव

उपरोक्त उभय पर्वों के अवसर विशेष यज्ञ का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। विजयादशमी पर्व दिनांक २-१०-९९ को श्री लक्ष्मण सिंह की अध्यक्षता के सम्पन्न हुआ, जिसमें वक्ता श्री पं० रामनरेश जी, पं० देवनारायण तिवारी, आचार्य ब्रह्मदत्त जी व्याकरणाचार्य, पं० पारसनाथ शास्त्री थे ऋषि निर्वाण दिवस ७-११-९९ को प्रातः ९ बजे से ११ बजे तक श्री देवी प्रसाद मस्करा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ जिसमें यज्ञ के पश्चात् श्री अपूर्व शर्मा ने ऋषि के जीवन पर सुन्दर कविता एवं श्री अशोक सिंह ने भजन प्रस्तुत किया। प्रमुख विद्वानों में पं० आत्मानन्द शास्त्री, आचार्य उमाकान्त उपाध्याय ने स्वामी जी के जीवन एवं अवदान पर प्रकाश डाला।

इस अवसर पर सप्तमी से विजय दशमी तक आर्य समाज मन्दिर के सामने भव्य जल क्षेत्र एवं प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र का संचालन सायं ७ बजे से १२ बजे रात्रि तक किया गया जिसका आयोजन अपने उत्साही युवा सदस्य श्री छोटे लाल सेठ की देखरेख में हुआ जिसमें श्री प्रेमशंकर जायसवाल, श्री लक्ष्मीकान्त जायसवाल एवं बाल सत्संग के बच्चे बड़ी तन्मयता से सेवा कार्य में जुटे रहे। इस अवसर पर श्री शिवकुमार जायसवाल एवं रणजीत सिंह ने पुस्तकों का स्टाल लगाया।

बसन्त पंचमी पर्व

दिनांक २२ जनवरी शुक्रवार को बसन्त पंचमी पर्व श्री श्रीनाथ दास गुप्त की अध्यक्षता में मनाया गया। वक्ता श्री अवधेश कुमार झा, श्री मनीराम आर्य एवं श्री अशोक सिंह।

महर्षि महिमा पर्व

आर्य समाज के प्रवर्त्तक युग निर्माता महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस फाल्गुन कृष्ण दशमी दिनांक २९-२-२००० दिन मंगलवार से ऋषि बोधोत्सव फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी दिनांक ४ मार्च दिन शनिवार तक कलकत्ते की समस्त आर्य समाजों के संयुक्त प्रयास से प्रतिवर्ष की भाँति **महर्षि महिमा पर्व** बड़े उत्साह के वातावरण में मनाया गया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस की प्रामाणिक तिथि निश्चय हो जाने के बाद इस महान महत्त्व की दो तिथियों के ४-५ दिन के अन्तराल को कलकत्ते की जनता ने ऋषि मेला का रूप देने का प्रयास गत कई वर्षों से किया है और इस सोच के पीछे आचार्य पं० उमाकान्त उपाध्याय की प्रेरणा रही है प्रतिवर्ष अलग-अलग आर्यसमाज संयोजक का दायित्व लेते हैं। इस वर्ष का भार आर्य समाज मध्य कलकत्ता का था **२९ फरवरी से ३ मार्च** तक का कार्यक्रम आर्य समाज कलकत्ता के सभागार में सायं ६.३० से ८.३० बजे तक होता था। दिनांक २९-२-२००० मंगलवार को सायं ६.३० से यज्ञ तथा ७.३० से ऋषि जन्मोत्सव मनाया गया जिसमें अशोक सिंह द्वारा महर्षि महिमा गीत। तथा श्री आचार्य चन्द्रदेव जी गुरुकुल कृष्णपुर, पं० देव नारायण तिवारी एवं अन्य विद्वानों द्वारा स्वामी जी के जीवन पर प्रकाश डाला गया। कार्यक्रम के अध्यक्ष पं० उमाकान्त उपाध्याय एवं संयोजक श्री श्रीराम आर्य मंत्री आर्य समाज कलकत्ता ने किया।

दिनांक १.३.२००० बुधवार सायं ६.३० से ७.१५ तक यज्ञ तथा श्रीमती सुषमा गोयल का भजन एवं ६.३० बजे मनुवाद एवं वर्ण व्यवस्था पर परिचर्या श्री पं० रामनरेश शास्त्री की अध्यक्षता में हुई जिसमें वक्ता थे पं० उमाकान्त उपाध्याय, आचार्य चन्द्रदेव जी गुरुकुल कृष्णपुर, पं० गंगासागर तिवारी संयोजक श्री कमलनाथ मानक टला। दिनांक २-३-२००० बृहस्पतिवार को यज्ञ एवं भजन के पश्चात् श्री पं० उमाकान्त उपाध्याय की अध्यक्षता में 'संस्कार' पर परिचर्चा हुई जिसमें वक्ता थे पं० आत्मानन्द शास्त्री, आचार्य चन्द्रदेवजी एवं ओमप्रकाश विद्यावाचस्पति संयोजक श्री प्रमोद कुमार अग्रवाल। दिनांक ३.३.२००० को **'वेद एवं दयानन्द'** विषय पर चर्चा श्री गंगासागर तिवारी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। संयोजक श्री चांदरतन दमाणी एवं वक्ता

पं० उमाकान्त उपाध्याय, श्री चन्द्रदेव जी गुरुकुल कृष्णपुर एवं पं० मधुसूदन सिद्धान्त विशारद ।

दिनांक ४-३-२००० को ऋषि बोधोत्सव का विशाल कार्यक्रम पंजाब भवन ६, फेयर रोड में सायं ४ बजे से सम्पन्न हुआ । जिसमें शतकुण्डीय पारिवारिक यज्ञ का आयोजन सायं ४ से ५ बजे तक हुआ एवं ५ से ८ बजे सायं तक श्री गजानन्दजी आर्य मंत्री, परोपकारिणी सभा अजमेर की अध्यक्षता में ऋषि बोधोत्सव मनाया गया जिसमें प्रधान अतिथि थे श्री दयानन्द जी आर्य, मुख्य अतिथि श्री देवी प्रसाद मस्करा, श्री मोहनलाल तुलस्यान, विशिष्ट अतिथि श्री दयानन्द आर्य, प्रधान वक्ता श्री देवी प्रसाद मस्करा एवं स्वागताध्यक्ष श्री ओम प्रकाश मस्करा तथा संयोजक पं० श्री पुरुषोत्तम अरोड़ा । इस अवसर पर आर्यसमाज ऋषि बोधोत्सव शीर्षक से एक पूरे पृष्ठ का परिशिष्ट विश्वामित्र दैनिक में प्रकाशित हुआ जो कि मे० ए. पी जे सुरेन्द्रा प्रा० लि० के सौजन्य एवं श्री ओम प्रकाश जी मस्करा के प्रयास से संभव हुआ । बाकी कार्यक्रमों में भी श्री मस्करा जी ने बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया ।

आर्यसमाज स्थापना दिवस

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा दिनांक ५ अप्रैल को आर्य समाज का १२५वाँ स्थापना दिवस आर्य समाज परोपकारिणी सभा अजमेर के महामंत्री श्री गजानन्द आर्य की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ जिसमें श्यामसुन्दर सांगनेरिया, आचार्य बालकृष्ण जी, आचार्य उमाकान्त उपाध्याय, पं० रामनरेश शास्त्री, पं० आत्मानन्द शास्त्री, श्री मनीराम आर्य एवं श्री अशोक सिंह प्रभृति ने इस अवसर पर आर्य समाज की स्थापना के सम्बन्ध में विचार रक्खा । कार्यक्रम का संचालन तत्कालीन मंत्री जी श्रीराम आर्य ने किया ।

नवशस्येष्टि पर्व

दिनांक २० मार्च को नवशयेष्टि पर्व एवं होलिकोत्सव पर्व प्रातःकाल आर्यसमाज बड़ाबाजार की ओर बिक्टोरिया मेमोरियल पार्क में मनाया गया । सायं ४ से ८ बजे तक आर्यसमाज कलकत्ता के सभागार में नवशयेष्टि पर्व के उपलक्ष में यज्ञ एवं प्रवचन का सुन्दर आयोजन किया गया । जिसकी अध्यक्षता आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान श्री लक्ष्मण सिंह ने की वक्ताओं में सर्वश्री देवनारायण तिवारी, मनीराम आर्य, परशुराम तोदी, कुलभूषण आर्य, अशोक सिंह, श्री पं० उमाकान्त उपाध्याय, देवव्रत तिवारी एवं श्री नाथ दास गुप्त प्रमुख थे ।

रामनवमी पर्व

दिनांक १२-४-२००० को श्रीनाथ दास गुप्त की अध्यक्षता में सायं ६ से ९ बजे तक रामनवमी पर्व मनाया गया। जिसमें पं० देवनारायण तिवारी, श्री श्रीराम आर्य, श्री आत्मानन्द शास्त्री, आचार्य पण्डित उमाकान्त उपाध्याय ने मर्यादा पुरुषोत्तम, श्री रामचन्द्र के गुणों पर प्रकाश डाला।

शुद्धि तिलक एवं विवाह संस्कार

इस वर्ष आर्य समाज मन्दिर में हमारे योग्य पुरोहितों द्वारा ९ शुद्धियाँ, २३ विवाह तथा ३२ वागदान समारोह (तिलक समारोह) एवं ३ जन्मोत्सव सम्पन्न कराये गये।

स्थिर निधियाँ

(विद्यार्थी सहायतार्थ)

१—आर्य समाज कलकत्ता A/c सीताराम आर्य विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि २१०००) यह स्थिर निधि विद्यार्थी सहायता के लिये तत्कालीन प्रधान श्री सीताराम आर्य द्वारा २७-१-८६ को स्थापित करायी गई। इससे मिलनेवाला ब्याज विद्यार्थियों की सहायता निमित्त खर्च होता है।

२—आर्य समाज कलकत्ता A/c गंगा देवी जायसवाल विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की १६-८-८५ को श्रीमती सावित्री जायसवाल द्वारा करायी गई। यह स्थिर निधि विद्यार्थी सहायता के लिए राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल के प्रयास से शताब्दी वर्ष के लपलक्ष्य में सर्वप्रथम स्थापित कराई गई।

३—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री जगन्नाथ कोले विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि १५०००) की दिनांक २४-३-८६ को आर्य समाज कलकत्ता द्वारा करायी गई जिसका निर्णय १९८६ के साधारण सभा के अनुसार है तथा इससे मिलने वाला ब्याज को विद्यार्थी सहायता के लिये खर्च किया जाता है।

४—आर्य समाज कलकत्ता A/c बनारसी दास अरोड़ा विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि दिनांक २९-७-९१ को ५०००) की है तथा इससे मिलने वाला ब्याज को विद्यार्थी सहायता के लिए खर्च किया जाता है।

५—आर्य समाज कलकत्ता A/c सावित्री देवी अरोड़ा विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की २६-१०-९२ को स्थापित कराई गई है तथा इससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थी सहायता की जाती है।

६—आर्य समाज कलकत्ता A/c सत्यनारायण गुलाबी देवी विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) ३१-१०-९१ को स्थापित करायी गई ऋषि लंगर

तथा इससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

७—आर्य समाज कलकत्ता A/c राजाराम धनपति देवी जायसवाल विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि १००००) की श्री राजाराम जायसवाल द्वारा २५-२-९२ को विद्यार्थी सहायता के लिए स्थापित करायी गई है तथा इससे मिलने वाला ब्याज को विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

८—आर्य समाज कलकत्ता मेवालाल सुरेशचन्द्र विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि १००००) की २४-३-९२ में करायी गई तथा इससे मिलने वाले ब्याज को विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

९—आर्य समाज कलकत्ता A/c लक्ष्मण सिंह एवं विद्यावती सिंह विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की २४-३-९२ में स्थापित करायी गई इससे मिलने वाले ब्याज को विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

उपरोक्त ९ स्थिर निधियाँ स्टेट बैंक ऑफ बिकानेर और जयपुर में है तथा इससे अतिरिक्त निम्न ३ निधियाँ इंलाहाबाद बैंक में है।

१०—आर्य समाज कलकत्ता A/c माया देवी विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि दिनांक ७-८-९१ को ५०००) की स्थापित कराई गई तथा इससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

११—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती सुनीति देवी शर्मा संस्कृत भाषा सहायतार्थ स्थिर निधि ५०००) की दिनांक ११-१०-९१ को श्रीमती सुनीति देवी शर्मा द्वारा स्थापित करायी गई तथा इसके ब्याज से आर्य समाज कलकत्ता द्वारा संचालित विद्यालयों में संस्कृत भाषा की परीक्षा में प्रथम स्थान पाने वाले छात्र-छात्राओं को पुरस्कृत किया जायेगा।

१२—आर्यसमाज कलकत्ता A/c विद्यावती सभरवाल विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि दिनांक १८-१२-९२ को १५०००) की यह स्थिर निधि स्व० श्रीमती विद्यावती सभरवाल की स्मृति में उनके पुत्र द्वारा स्थापित करायी गई है, जिससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थियों की सहायता की जायेगी।

१३—आर्य समाज कलकत्ता A/c विद्यावती नन्दगोपाल दत्त विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि २०-२-९५ को १२०००) की उनके स्मृति में प्राप्त दान से स्थापित कराई गई जिससे मिलने वाले ब्याज को विद्यार्थियों के सहायतार्थ खर्च किया जायेगा।

१४—आर्यसमाज कलकत्ता A/c शिवनन्दन प्रसाद विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की यह स्थिर निधि स्व० श्रीमती विद्यावती सभरवाल की स्मृति में उनके पुत्र द्वारा स्थापित करायी गई है, जिससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थियों की सहायता की जायेगी।

१३—आर्य समाज कलकत्ता A/c नन्दलाल सेठ विद्यार्थी सहायता स्थिर

निधि ५०००) की उनके स्मृति में प्राप्त दान से स्थापित कराई गई जिससे मिलने वाले ब्याज को विद्यार्थियों के सहायतार्थ खर्च किया जायेगा ।

ऋषि लंगर

१५—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी ऋषि लंगर के लिए १-८-९७ को ५०००) ।

१६—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती कमला अरोड़ा ऋषि लंगर के लिए २०-१०-९७ को ६०००) ऊपर लिखित दोनों निधियाँ का ब्याज ऋषि लंगर पर खर्च किया जायेगा ।

१७—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री बनारसी दास अरोड़ा ऋषि लंगर के लिए १-८-९३ को १०,००० खर्च किया ।

१८—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती शान्ति देवी प्रसाद ऋषि लंगर के लिए ३-५-९२ को ५,००० खर्च किया ।

१९—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री शिवनन्दन प्रसाद ऋषि लंगर के लिए ३-५-९२ को ५,००० खर्च किया ।

प्रकाशन फण्ड

२०—आर्यसमाज कलकत्ता A/c प्रकाशन फण्ड नाम की ४००००) की यह स्थिर निधि दिनांक १-८-९३ को आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा प्रकाशन के लिए स्थापित करायी गई है । इससे मिलने वाली ब्याज को वैदिक साहित्य के प्रकाशन पर खर्च किया जायेगा ।

२१—आर्यसमाज कलकत्ता A/c प्रकाशन फण्ड नाम की ६००००) की स्थिर निधि १-३-९० में आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा स्थापित करायी गई है तथा इससे मिलने वाले ब्याज को वैदिक साहित्य के प्रकाशन पर खर्च किया जायेगा ।

२२—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती शांति देवी प्रसाद स्थिर निधि, दिनांक ३-५-९२ को ५०००) रु० दिया जो प्रकाशन फण्ड में खर्च किया जाएगा ।

२३—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री शिवनन्दन प्रसाद स्थिर निधि, दिनांक ३-५-९२ को ५०००) रु० दिया जो प्रकाशन फण्ड में खर्च किया जाएगा ।

दयानन्द धर्मार्थ औषधालय

२४—आर्यसमाज कलकत्ता A/c नन्दगोपाल दत्त ५०००) की यह निधि श्रीमती विद्यावती दत्त द्वारा दिनांक २०-१०-९१ को आर्यसमाज कलकत्ता को दी गई है । इस निधि से मिलने वाले ब्याज से दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के रोगियों को लिए दवा तैयार की जाती है ।

२५—आर्यसमाज कलकत्ता A/c गुरुदास शर्मा की स्थिर निधि ५१००) दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के लिए १-११-९२ को प्राप्त हुई।

२६—आर्यसमाज कलकत्ता A/c हौसला देवी तिवारी स्मारक निधि द्वारा २००००) की एक स्थिर निधि दयानन्द धर्मार्थ औषधालय स्थिर निधि १२-५-९२ को हुई जिसके ब्याज से दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के रोगियों के दवा तैयार की जाती है।

२७—आर्य समाज कलकत्ता A/c के० सी० सिंह दयानन्द धर्मार्थ औषधालय स्थिर निधि २५००) की श्री के० सी० सिंह द्वारा २०-२-९५ को स्थापित करायी गई इससे मिलने वाले ब्याज को औषधालय में खर्च किया जाता है।

२८(क)—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री विजय कुमार सैनी द्वारा दिनांक .... को १००००) दिया गया जो औषधि विभाग में खर्चा किया जाएगा।

२८(ख)—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री छबीलदास सैनी द्वारा दिनांक .... को ५०००) दिया गया जो औषधि विभाग में खर्चा किया जाएगा।

अतिथि सत्कार

२९—आर्य समाज कलकत्ता A/c यशवन्त चोपड़ा स्थिर निधि दिनांक १७-१२-८६ को ५०००) की प्राप्त हुई जिससे मिलने वाले ब्याज को अतिथि सत्कार पर खर्च किया जाता है। तथा यह निधि स्टेट बैंक आफ बीकानेर एण्ड जयपुर में है।

वैदिक प्रचार सहायता कोष

३०—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वैदिक प्रचारक सहायता कोष २,००,०००) की यह स्थिर निधि आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा १-७-८६ को बनायी गई तथा इससे मिलने वाले ब्याज को वैदिक धर्म के प्रचारकों एवं विद्वानों के सहायता में खर्च किया जाता है।

३१—आर्यसमाज कलकत्ता A/c श्रीमती एवं श्री रामधनी जायसवाल वैदिक कोष स्थिर निधि १६-१-९१ को ५१००) की है जो विद्वानों के सहायतार्थ प्राप्त हुई है तथा उससे मिलने वाले ब्याज को विद्वानों के सहायता में खर्च किया जाता है।

स्वास्थ्य एवं जन कल्याण

३२—आर्य समाज कलकत्ता A/c स्वास्थ्य एवं जनकल्याण दिनांक ४-४-८९ को आर्यसमाज द्वारा बनायी गई यह स्थिर निधि ६०,०००) की है इससे मिलने वाले ब्याज को जनकल्याण के लिए खर्च किया जाता है।

३३—आर्यसमाज कलकत्ता A/c स्वास्थ्य एवं जनकल्याण स्थिर निधि शताब्दी वर्ष में दीघा में स्वास्थ्य केन्द्र खोलने के निमित्त स्थापित कराई गई थी। दिनांक १८-१२-९२ को अन्तरंग सभा ने निर्णय किया कि इससे मिलने वाले ब्याज को जनकल्याण एवं सेवा में खर्च किया जाय। यह निधि ५०,०००) रुपये की है।

उपरोक्त दोनों निधियाँ स्टेट बैंक आफ बीकानेर जयपुर में है। इनके अतिरिक्त निम्न दो स्थिर निधियाँ भी स्वास्थ्य एवं जनकल्याण में है जो इलाहाबाद बैंक में स्थापित कराई गई है।

३४—आर्यसमाज कलकत्ता A/c रामसुन्दर जायसवाल की स्थिर निधि ५०००) की है। दिनांक ७-७-८९ को प्राप्त हुई।

३५—आर्यसमाज कलकत्ता A/c रुपेश कुमार जायसवाल २५००) की स्थिर निधि ७-८-८९ को प्राप्त हुई तथा इलाहाबाद बैंक में इसकी निधि करा दी गई। जिससे मिलने वाले ब्याज को स्वास्थ्य एवं जनकल्याण में खर्च किया जाता है।

महिला कल्याण

३६—आर्यसमाज कलकत्ता A/c ईश्वरचन्द्र आर्य ११०००) की यह स्थिर निधि स्वर्गीय श्री ईश्वरचन्द्र आर्य द्वारा महिला कल्याण के लिए दिनांक २८-१-८६ को प्रदान की गई जिससे मिलने वाले ब्याज को महिलाओं के कल्याण पर खर्च किया जाता है।

३७—आर्य समाज कलकत्ता A/c महारानी देवी जायसवाल, महिला कल्याण स्थिर निधि ५,१००) की है तथा जिससे महिला कल्याण के लिए २३-९-९२ को प्रदान किया गया है। इस निधि में मिलने वाले ब्याज को महिलाओं के कल्याण पर खर्च किया जाता है।

३८—आर्य समाज कलकत्ता द्वारा स्थापित ५०,०००) जिससे मिलने वाले ब्याज को महिला कल्याण के लिए खर्च किया जायेगा।

३९—आर्य समाज कलकत्ता A/c केकनवती बंसल द्वारा स्थापित १,०० ०००) रु० जिससे मिलने वाले ब्याज को महिला कल्याण के लिए खर्च किया जायेगा।

वेद प्रचार

४०—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार ६०,००० की यह स्थिर निधि १-३-९१ में आर्य समाज कलकत्ता द्वारा बनाई गई है। जिससे मिलने वाले को वेद प्रचार पर खर्च किया जायेगा।

४१—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार ९०,०००) की यह स्थिर निधि आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा १-१०-९१ को वेद प्रचार के लिए बनाई गई है।

४२—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार १०,०००) को यह स्थिर निधि १४-१०-९१ को आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा बनाई गई जिससे मिलने वाले ब्याज प्रचार कार्य में खर्च किया जाता है।

४३—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार २५०००) की स्थिर निधि आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा बनाई गई जिससे मिलने वाले ब्याज को वेद प्रचार पर खर्च की जायेगी।

४४—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार आर्य समाज कलकत्ता द्वारा २२-११-९१ को १५०००) यह स्थिर निधि वेद प्रचार के लिए बनाई गई जिससे मिलने वाले ब्याज को वेद प्रचार पर खर्च की जायेगी।

४५—आर्य समाज कलकत्ता A/c लब्बूराम शोदपुर १०००) की यह स्थिर निधि दिनांक ८-८-९१ को सम्भवतः यह सबसे प्राचीन स्थिर निधि है इससे मिलने वाले ब्याज समाज के खर्च के लिए है।

वार्षिकोत्सव यज्ञ

४६—आर्यसमाज कलकत्ता A/c श्री सरोज अरोड़ा १०,०००) की यह स्थिर निधि वार्षिकोत्सव पर यज्ञ के लिए है। इससे मिलने वाले ब्याज को वार्षिकोत्सव पर खर्च किया जाता है।

४७—आर्यसमाज कलकत्ता A/c श्रीमती शकुन्तला अरोड़ा ५,०००) की यह स्थिर निधि दिनांक २१-१०-९९ को स्थापित की। जिसका ब्याज यज्ञ में खर्च किया जायेगा।

आर्य स्त्री समाज कलकत्ता

४८—आर्य समाज कलकत्ता A/c आर्य स्त्री समाज कलकत्ता ५,०००) की स्थिर निधि आर्य स्त्री समाज कलकत्ता के प्रयास से श्रीमती विद्यावती संभरवाल आर्य समाज कलकत्ता द्वारा स्थापित करायी गयी यह निधि ४-२-८० में आर्य स्त्री समाज कलकत्ता के लिए प्राप्त हुई।

४९— आर्य समाज कलकत्ता A/c १०,०००) की स्थिर निधि ९-११-९२ को आर्य स्त्री समाज कलकत्ता द्वारा स्थापित करायी गयी है। जिससे मिलने वाले ब्याज को आर्य स्त्री समाज द्वारा खर्च किया जायेगा।

५०—आर्य समाज कलकत्ता A/c आर्य स्त्री समाज कलकत्ता द्वारा २१०००) की स्थिर निधि इलाहाबाद बैंक में।

वैदिक गुरुकुल सहायता स्थिर निधि

५१—आर्य समाज कलकत्ता द्वारा (१) ५०,०००) और (२) ४०,०००) की स्थिर निधि बनाया गया। इसके ब्याज से गुरुकुलों को सहायता दी जाती है।

५२—स्व० श्रीमती केवला देवी आर्या की स्मृति में वैदिक गुरुकुल सहायता १००००) की स्थिर निधि श्री सीताराम आर्य ने कराया है।

५३—आर्य समाज कलकत्ता वैदिक गुरुकुल सहायता स्थिर निधि स्व० श्रीमती विद्यावती दत्त की स्मृति में ५०००) की उनके पुत्र द्वारा बनाया गया है।

५४—आर्यसमाज कलकत्ता A/c गुरुकुल सहायता स्थिर निधि दिनांक १०-३-९५ को ११,०००) स्व० शान्ति स्वरूप गुप्त की स्मृति में उनके पुत्र द्वारा प्रदान की गई दान राशि से स्थापित करायी गई इससे मिलनेवाले ब्याज से गुरुकुलों की सहायता की जायेगी।

५५—आर्यसमाज कलकत्ता A/c गुरुकुल सहायता स्थिर निधि ५०००) की दिनांक २०-२-९५ को श्री के०सी० सिंह द्वारा प्रदत्त दान से कराई गई है निधि दाता की इच्छानुसार इससे मिलनेवाले ब्याज को गुरुकुल सहायता में खर्च किया जायेगा।

५६—आर्यसमाज कलकत्ता। गुरुकुल सहायतार्थ स्थिर निधि आर्य समाज कलकत्ता द्वारा दिनांक २०-३-९५ को ५००००) की आर्य समाज कलकत्ता के फण्ड से स्थापित कराई गई इससे मिलने वाले ब्याज से गुरुकुल की सहायता की जायेगी।

५७—दिनांक १७-७-९५ को श्री मेवालाल जायसवाल श्रीमती पार्वती देवी जायसवाल के नाम पर १००००) की स्थिर निधि गुरुकुल सहायतार्थ किया गया।

५८—श्री के० सी० सिंह द्वारा ५०००) की गुरुकुल सहायता स्थिर निधि २०-२-९९ को स्थापित कराई गई। इससे मिलने वाला ब्याज गुरुकुलों की सहायता में खर्च किया जायेगा।

५९—श्री वृजमोहन ओबेराय द्वारा ५०००) की स्थिर निधि दिनांक ३०-३-९९ को गुरुकुल सहायता के लिये प्रदान की गई। इससे मिलने वाले ब्याज को गुरुकुल सहायता में खर्च किया जायेगा।

आर्यसमाज कलकत्ता की अंतरंग सभा द्वारा नियुक्त उपसमिति स्थिर निधियों से मिले हुए ब्याज का उनके निधि दाताओं द्वारा निर्दिष्ट मदों में वितरित करने का निर्णय करती है।

शोक प्रस्ताव

अप्रैल १९९९ से मार्च २००० तक

१. श्री जगदीश तिवारी
२. श्री सुरेश अग्रवाल
३. श्री शंकर प्रसाद जायसवाल
४. श्री सुरेश लाखोटिया
५. श्री रामअवध मिश्र
६. श्री केदार नाथ सेठ
७. श्री कलावती देवी
८. श्री सविता देवी
९. श्री वीरेन्द्रनाथ शास्त्री
१०. श्री चन्द्रमोहन आर्य
११. श्री चुन्नी लाल जायसवाल
१२. श्रीमती किरन देवी सिंह
१३. श्री ओमप्रकाश बंसल
१४. श्री मौजी लाल साव
१५. स्वामी अभयानन्द महाराज

धन्यवाद ज्ञापन

आर्यसमाज कलकत्ता के कर्मठ कार्यकर्ताओं, अन्तरंग के सदस्यों एवं कर्मचारियों तथा आर्यसमाज के सहयोगियों के हार्दिक सहयोग से वर्तमान वर्ष का कार्य सफलतापूर्वक पूर्ण हुआ। अतः इन सभी महानुभावों के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए हम सबका हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

आशा है भविष्य में वैदिक सिद्धांतों के प्रचार निमित्त जो योजना बनाई जायेगी उसमें आप सबका पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
मंत्रा

आर्य समाज कलकत्ता
के
स्थायी पुरोगम एवं प्रचार कार्य

१— दैनिक यज्ञ प्रातः ७ बजे से हवन एवं मंत्र पाठ ।

२— साप्ताहिक—प्रति रविवार प्रातः ८ बजे यज्ञ, ९ बजे से ११ बजे तक सत्यार्थ प्रकाश की कथा, भजन और आचार्य उमाकान्त उपाध्याय तथा अन्य विद्वानों के प्रवचन ।

३— प्रत्येक बुधवार को अपराह्न २॥ बजे से ४॥ बजे तक आर्य स्त्री समाज का सत्संग होता है ।

४— पुस्तकालय एवं वाचनालय की सुव्यवस्था है जिससे अधिकाधिक लोग लाभ उठाते हैं यह निःशुल्क प्रातः ८ बजे से १० बजे तक एवं सायं ६ बजे से ८ बजे तक खुला रहता है ।

५— दातव्य चिकित्सालय-प्रतिदिन प्रातः ७ से १० बजे तक सैकड़ों रोगी आकर निःशुल्क औषधि ग्रहण करते और रोग मुक्त होते हैं ।

६— आर्य समाज मन्दिर के प्रवेश द्वार पर प्याऊ का समुचित प्रबन्ध है । यहाँ तृषित जन आकर प्यास बुझाते हैं ।

७— वैदिक एवं धार्मिक पुस्तकें तथा शुद्ध हवन सामग्री यहाँ उपलब्ध होती है ।

विश्वनाथ पोद्दार
प्रधान

राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
मंत्री

वार्षिकोत्सव २०००

आर्य समाज कलकत्ता का ११५ वाँ वार्षिकोत्सव दिनांक २३ दिसम्बर से ३१ दिसम्बर तक बड़े उत्साह के साथ मुहम्मद अली पार्क में मनाया गया। परमेश्वर की कृपा से वार्षिकोत्सव का नव दिवसीय कार्यक्रम बड़ी प्रसन्नता एवं उत्साह के वातावरण में सम्पूर्ण परमेश्वर को कोटिशः धन्यवाद। इस महोत्सव की बड़ी विशेषता यह रही कि लगभग ४ वर्षों के पश्चात् हम मैदान में वार्षिकोत्सव का कार्यक्रम रख पाये। इसमें कुछ पार्क के नवनिर्माण की और कुछ अपनी समस्या थी। समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता श्री ओम प्रकाश मस्करा ने इस वर्ष संयोजक का दायित्व स्वीकार किया और बड़ी लगन के साथ दिन रात एक करके वार्षिकोत्सव को सफल एवं सार्थक बनाने का प्रयास किया। इसके लिए हम श्री ओम प्रकाश मस्करा का हार्दिक धन्यवाद करते हैं। इस प्रयास में उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अरुणा मस्करा एवं उनके निजी स्टाफ का सफल योगदान रहा। जहाँ पार्क के मोर्चे पर ओमप्रकाश मस्करा जुटे हुए थे वही व्यवस्था के मोर्चे पर श्री दीपक आर्य तैनात थे। प्रातः ६ बजे से लेकर रात ११ बजे तक विद्वानों एवं अतिथियों के भोजन, जलपान इत्यादि की व्यवस्था में स्वयं तथा नन्दलाल जी एवं उनके पुत्र प्रशान्त को लेकर सन्नद्ध रहे इधर भी दीपक जी के निजी स्टाफ रामचन्द्र मिश्रा का अथक परिश्रम सराहनीय रहा है जिसके कारण कहीं भी अव्यवस्था का सामना नहीं करना पड़ा आर्य समाज कलकत्ता के इस वार्षिकोत्सव पर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उ०प्र० से अनेक व्यक्ति यहाँ ठहरे जिनके आवास और भोजन, जलपान की व्यवस्था कष्टदायी तो नहीं पर कठिन अवश्य थी। जहाँ विद्वानों और प्रचारकों के अतिरिक्त १५०-२०० व्यक्तियों की व्यवस्था करनी थी। मैं दीपक आर्य का विशेष आभार प्रकट करता हूँ।

इस वर्ष पार्क का परमीशन कई वर्षों के अन्तराल के बाद मुहम्मद अली पार्क में होना था इसमें कठिनाई की सम्भावना थी पर श्री ओम प्रकाश मस्करा ने इसको संभाला एवं मेयर श्री सुब्रत मुखर्जी एवं स्थानीय कौन्सिलर के सहयोग से स्वीकृत कराया जिसके लिए श्री मस्करा जी एवं कलकत्ता कारपोरेशन का धन्यवाद है।

शोभायात्रा का दायित्व श्री मनीराम आर्य का था। श्री मनीराम आर्य प्रतिवर्ष

Permission कराते हैं । इस वर्ष शोभायात्रा का दायित्व भी उन्हीं का था श्री सुरेश अग्रवाल का उत्साह विशेष रहता है और जुलूस की सफलता और ध्वझोत्तोलन जितना आकर्षक हो उतना ही उनका उत्साह बढ़ता जाता है ।

भोजन एवं प्रसाद की व्यवस्था में जहाँ दीपक जी आर्य तल्लीन थे वही पार्क में विद्वानों, प्रचारकों आदि के जलपान के लिए माता रमादेवी गुप्ता धर्मपत्नी श्री रुलियाराम गुप्त की लगन एवं योगदान सराहनीय है इस उम्र में उनकी यह निष्ठा सचमुच सराहनीय है ।

वेद-परायण यज्ञ हमारे वार्षिकोत्सव का प्रमुख अंग रहता है इस वर्ष यजुर्वेद पारायण यज्ञ का कार्यक्रम था जिसके ब्रह्मा पं० उमाकान्त उपाध्याय थे एवं ऋत्विगगण में पं० आत्मानन्द शास्त्री, पं० देव नारायण तिवारी, पं० नचिकेता भट्टाचार्य एवं श्रीमती सुनीति शर्मा । लगभग ४० जोड़े यजमान एवं व्यवस्था में श्री लक्ष्मीकान्त जायसवाल, श्री शीतल प्रसाद आर्य, मोतीलाल आर्य, घनश्याम वर्मा एवं शिव कुमार प्रमुख थे । इसमें कौन्सिलर श्रीमती सुनीता झँवर की उपस्थिति प्रशंसनीय है ।

इस अवसर पर सायंकाल ६ से ९ बजे तक संध्या ध्यान, प्राणायाम, भजन एवं उपदेश का कार्यक्रम रहा तथा विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन किया गया जिसमें प्रमुख थे —

श्रद्धानन्द बलिदान दिवस — दिनांक २३ दिसम्बर सायं ६ से ८ बजे तक किया गया । जिसकी अध्यक्षता स्वामी डा० दिव्यानन्द सरस्वती ने की । इसके पूर्व नव दिवसीय महोत्सव का उद्घाटन अर्न्तराष्ट्रीय मारवाड़ी सम्मेलन के अध्यक्ष श्री सत्यनारायण बजाज ने किया ।

वेद-सम्मेलन :—दिनांक २४ दिसम्बर अपराह्न ३ बजे सम्पन्न हुआ जिसके संयोजक श्री पं० देवनारायण तिवारी थे एवं अध्यक्षता डा० सत्यव्रत राजेश पूर्व निर्देशक गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार ने की । महिला सम्मेलन दिनांक २७ दिसम्बर को अपराह्न ३ से प्रारम्भ हुआ एवं अध्यक्ष श्रीमती सुनीति शर्मा एवं संयोजक श्रीमती सुषमा अग्रवाल विशिष्ट अतिथि उप महापौर श्रीमती मीना पुरोहित थी ।

योग सम्मेलन :—स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ क्रियात्मक योग पर उनके विचार एवं पं० भीमदेव का योगशक्ति का विशेष प्रदर्शन उसके मुख्य आकर्षण थे ।

युवा सम्मेलन :—युवा सम्मेलन का संयोजन श्री घनश्याम मौर्य ने किया और अध्यक्षता पं० सत्यव्रत राजेश जी ने की एवं गुरुकूल कोलाघाट एवं

उपदेशक विद्यालय हावड़ा के ब्रह्मचारियों ने युवाशक्ति के योगदान पर विचार रक्खा एवं कन्या गुरुकुल की छात्राओं ने सुन्दर संगीत प्रस्तुत किया । कार्यक्रम का समापन ३१ दिसम्बर ९ बजे श्रीमती सुमना आर्या मंत्रिणी आर्य स्त्री समाज कलकत्ता एवं श्रीमती अरूणा मस्करा के प्रार्थना मंत्रों के पाठ एवं शान्ति पाठ के साथ सम्पन्न हुआ ।

इस अवसर पर यातायात में आर्य कन्या महाविद्यालय एवं आर्य महिला शिक्षा मण्डल ट्रस्ट के जीप एवं बस का विशेष योगदान रहा उनके ड्राइवर आदि का सहयोग सराहनीय है ।

मंच संचालन व्यवस्था में श्री ओमप्रकाश मस्करा के सहयोग में उपमंत्री श्री छोटेलाल सेठ, उपप्रधान श्री श्रीराम आर्य एवं घनश्याम मौर्य का सहयोग रहा । जन सम्पर्क में श्री हीरालाल जायसवाल, अजय गुप्ता, संतोष सेठ, कृष्ण कुमार जायसवाल, देवव्रत आर्य, आनन्द जायसवाल, अजय सेठ, प्रभाकर सेठ, अभिषेक, रंजीत झा, सत्येन्द्र, वेद प्रकाश जायसवाल, नन्दलाल सेठ आदि काफी सक्रिय थे ।

सफाई एवं स्वयंसेवक व्यवस्था में अधिष्ठाता आर्य युवा सभा एवं समस्त युवक साथियों का सहयोग सराहनीय है । पंडाल एवं बिजली व्यवस्था के लिए श्री ओमप्रकाश मस्करा का निर्देशन एवं बलाई दास तथा सोना पाल की उत्साह एवं लगन प्रशंसनीय है । इस वर्ष जल की व्यवस्था श्री ओमप्रकाश मस्करा एवं श्री देवव्रत आर्या के प्रयास से श्री धर्म प्रकाश अग्रवाल जी ने साल्टलेक संस्कृति संसद की जल की गाड़ी भेजकर प्रशंसनीय कार्य किया है । अर्थसंग्रह के लिए श्री अवधेश झा के साथ-साथ श्री अच्छेलाल सेठ, श्री सुरेश चन्द्र जायसवाल, श्री घनश्याम मौर्य, श्रीमती सुमना आर्या, श्री ओम् प्रकाश मस्करा जी छबील दास सैनी एवं श्री पं० देवनारायण जी तिवारी का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है ।

वैदिक साहित्य प्रचार में श्री मदन लाल सेठ, श्री शिवकुमार जायसवाल एवं श्री रंजीत सिंह विशेष उत्साहित रहे हैं ।

पंडाल कार्यालय की व्यवस्था में जहाँ अच्छेलाल सेठ, नन्दलाल सेठ, विजय प्रकाश जायसवाल, सत्येन्द्र जायसवाल, अनिलदास एवं सुरेश आदि सक्रिय थे । कार्यालय आर्य समाज मन्दिर से श्री दीपक आर्य के निर्देशन में श्री राम स्वरूप खन्ना, जसवंत सिंह, भुवनेश एवं श्री संकठा प्रसाद दूबे का कार्य प्रशंसनीय है ।

ऋषि लंगर व्यवस्था :— ऋषि लंगर व्यवस्था का भार श्री दीपक आर्य ने अपने युवा शाखा के युवकों के साथ संभाला जो इस वर्ष काफी व्यवस्थित था। कुल मिलाकर वार्षिकोत्सव बहुत उत्साह एवं प्रसन्नता के वातावरण में सम्पन्न हुआ। वेद प्रचार की दृष्टि से वैदिक साहित्य के लिए आर्य समाज कलकत्ता, आर्य समाज बड़ाबाजार, साहित्य बिक्रेता, जगत्नारायण पटना, आर्य प्रकाशन दिल्ली, सत्यदेव धर्मार्थी गाजियाबाद, जीतेन्द्र पुरुषार्थी दिल्ली, शंकर लाल आर्य, कलकत्ता आदि एवं प्रेम प्रकाशन गाजियाबाद के कैसेट का स्टाल एवं वैदिक साहित्य के बिक्री विभाग की विशेष रौनक थी।

हम इस वार्षिकोत्सव की सफलता के लिए अपने समस्त सहयोगियों दानी दाताओं एवं शुभ चिन्तकों का हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
मंत्री
आर्य समाज कलकत्ता